3.5
VHP

श्री जपुजी - दर्पण







अमरजीत सिंह धवन

चण्डीगढ़

समर्पण

जगदाधार, कर्त्तार, स्वामिन् !

आप ही की अपार कृपा से: इस तुच्छ कीट द्वारा यह सेवा सम्भव हो सकी है ।

अत:

हे ! दीनबन्धु, कृपासिन्धु, पिता !

कृपया इसे स्वीकार कीजिये !

अकिंचन

'धवन'

आमुख

—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि भाई अमर जीत सिंह जी धवन ने जपुजी की हिंदी व्याख्या प्रस्तुत की है। 'जपुजी' आध्यात्मिक जगत् का अनमोल रत्न है। यह आध्यात्मिक अनुभूतियों का निचोड़ है। अत्यन्त सहज भाषा में अतीव प्रभावशाली ढंग से दुर्लभ ज्ञान को सुलभ बनाने वाले ग्रन्थों में यह बहुत ऊंचे स्थान का अधिकारी है। निरन्तर श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा निर्मलीभूत चित्त से निकला हुआ यह पवित्र ज्ञान पाठक के चित्त में अपूर्व भावभूमि प्रस्तुत करता है। वाणी में विश्वास की इतनी बड़ी शक्ति है कि पाठक के चित्त में किसी भी अवस्था में दुविधा या संशय नहीं उत्पन्न होने देती। इस महिमाशालिनी रचना को पढ़ने से उस सिद्धान्त के प्रति पूर्ण आस्था पैदा होती है जिसमें कहा गया है कि वाणी वक्ता के हृदय की जिस गहराई से निकलती है उसी गहराई में श्रोता को प्रभावित करती है।

तन्त्रों और अन्य आगम ग्रन्थों में जप की बड़ी महिमा बताई गई है। परन्तु यह भी बताया गया है कि जिस मंत्र या नाम का जप किया जाता है यदि वह बिना समझे बूझे केवल मुँह से उच्चारण किया जाता रहे तो सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। मंत्र तभी 'मंत्र' (मनन-युक्त) होता

है जब उसके द्वारा काम्य देवता का ध्यान भी किया जाये। उसके विना मंत्र जड़ होता है; वह साधक को अभीष्ट लक्ष्य पर नहीं ले जा सकता। मंत्र को इस योग्य बनाने की प्रक्रिया को "मन्त्र-चैतन्य" सिद्ध करने की क्रिया बताया जाता है। सभी संप्रदाय के तन्त्रों में अंगन्यास, ध्यान, मुद्रा आदि की विधियां इसी मंत्र-चैतन्य की सिद्धि के लिए बताई जाती हैं। तन्त्रों के साहित्य में इनका बड़ा विस्तार है परन्तु लक्ष्य, मन्त्र-चैतन्य की सिद्धी ही है और मन्त्र-जप के द्वारा जिस शक्ति का देवरूप में ध्यान किया जाता है वह 'उत्पादित देवता' होता है, 'नित्य-देवता' नहीं।

मन्त्र-जप का चरम-रूप है उस परमा शक्ति के साथ एकमेक होना जो समस्त शक्तियों का मूल है। सन्तों की 'सहज-साधना' में इन उत्पादित देवताओं के लिए जप करने को छोड़ने और मूलशक्ति के ही स्मरण मनन करने पर बल दिया गया है। कबीर ने कहा था कि "हरि सागर जनि बीसरै, छीलर देखि अनन्त" अर्थात् ऐ मन, तू अनेक छोटे छोटे जलाशयों के चक्कर में पड़ कर हरि रूपि समुद्र को न भूल जा। तन्त्रों में जो 'ध्यान' है उसे सन्तों की सहज-साधना में 'सुमिरन' का रूप प्राप्त हुआ है। अनेक मन्त्रों के स्थान पर केवल एक 'नाम' का ग्रहण किया गया है। समूचे अक्षर-तत्त्व को 'नाम' में समेट लिया गया है और सारी सिद्धियों का तिरस्कार करके एक ही महासिद्धि—भक्ति—को स्वीकार किया गया है। मैंने अपनी पुस्तक "सहज-साधना" में यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार पूर्ववर्ती साधना के जटिल विधान को संतों ने सहज, लोकगम्य साधना का रूप दिया है। इस दृष्टि से 'जपुजी' बहुत ही महत्वपूर्ण कृति है।

"जपुजी" में श्रवण-मनन, नाम-नामी का प्रत्यय, जगत्-प्रपंच का मूल कारण, गुण-संकीर्तन, भगवन्महिमा आदि तत्वों को इतनी शक्तिशाली और सहज भाषा में कहा गया है कि शास्त्रीय प्रपंच एकदम

म्लान लगने लगते हैं। भगवान् की महिमा पर अखण्ठ विश्वास इसकी शक्ति है, सब कुछ की सत्ता प्रभु-प्रसाद और प्रभु-आदेश पर आश्रित मानना इसका साधन है। परमानंद-सन्दोह, समस्त गुणों के आकर, सर्वसमर्थ, अविगतिगति प्रभु की भक्ति इसका लक्ष्य है। भावों का अविरल प्रवाह इन बातों को सहजग्राह्य बनाता है और परमात्मा की कृपा के प्रति अपूर्व निष्ठा इसे चित में अविचल बना देते हैं। चित्त की चंचलता के शमन का ऐसा भक्तिपरक योग बहुत कम देखने को मिलता है। आश्चर्य नहीं कि इस रचना ने हज़ारों लाखों का मार्ग-दर्शन किया है और न जाने कितनों को भगवत्-प्रेम की दीपशिखा दी है। प्रत्येक पाठ के बाद इससे नया आलोक मिलता है।

'धवन जी' के इस शुभ प्रयास से यह ग्रन्थ हिंदी जानने वालों के लिए सुलभ हुआ है। सभी भक्ति-जन हृदय खोलकर इसका स्वागत करेंगे। परमात्मा उन्हें दीर्घ आयु और स्वास्थ्य दें और इस प्रकार के मंगल प्रयत्नों की सतत प्रेरणा देते रहें।

चण्डीगढ़
१५-९-६६

वक्तव्य

'जपुजी' श्री गुरु नानक देव जी की अमर-रचना है। इसकी छोटी सी काया में शाश्वत मानव-धर्म का उच्च-कोटि का ज्ञान निहित है जिसे आत्मसात् कर लेने से मानव-जीवन की विषम उलझनें सहज ही में सुलझ जाती हैं। धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से इस पावन कृति का बहुत महत्व है। गुरूवाणी में श्रद्धा रखने वाले कोटि नर-नारि प्रातः प्रतिदिन इसका मंगल पाठ करते हैं और अपने संघर्षमय सांसारिक जीवन में सुख-शांति के हेतु एक स्वस्थ जीवन-दृष्टि प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत 'श्री जपुजी-दर्पण' गुरु साहिब के इसी अमर और महामहिम सन्देश को समझने-समझाने का पुण्य-प्रयास है जिसे अध्यात्म-तत्व के परम जिज्ञासु श्री अमरजीत सिंह धवन ने कई वर्षों के स्वाध्याय के परिणाम-स्वरूप बड़ी श्रद्धा से सरल हिंदी-भाषा में प्रस्तुत किया है। इस अनुवाद को प्रस्तुत करने में श्री धवन ने काफी परिश्रम किया है : मूल के गूढ़ आशय को स्पष्ट करने के लिए यत्र-तत्र आवश्यकतानुसार उन्होंने संक्षिप्त व्याख्या का आश्रय लिया है और मूल के कठिन शब्दों के सरल अर्थों को टिप्पणी के रूप में नीचे दे दिया है।

श्री धवन जी का संपूर्ण प्रयास दुरूह दार्शनिक जटिलताओं से सर्वथा मुक्त है और इसी अनुपात से सर्वग्राह्य भी।

नागरी अक्षरों में इस सरल हिंदी अनुवाद को प्रस्तुत करके श्री धवन जी निस्सन्देह एक सराहनीय कार्य कर रहे हैं जिससे आज के इस संतप्त एवं विकल युग में अवश्य ही अधिकाधिक जनों का भला होगा। इस पुण्य प्रयास के लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

डा० सरनदास भनोत
एम. ए. पीएच. डी.
रीडर, हिन्दी विभाग
पंजाब यूनिवर्सिटी

कृतज्ञता-प्रकाशन

परमब्रह्म-पिता की अगम्य, अपार कृपा द्वारा इस पुस्तक के लेखन, परिमार्जन तथा प्रकाशन में जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ वह इस प्रकार है :

सन्त साहित्य के सुविख्यात मनीषी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 'आमुख' लिख कर तान्त्रिक तथा सन्त-साधना के परिप्रेक्ष्य में 'जप' का विवेचन प्रस्तुत करके विषय के इस अभिन्न अंग को स्पष्ट कर दिया है। इसके लिए लेखक उनका हार्दिक ऋणी तथा आभारी है।

गुरूवाणी प्रेमी डा० सुरेन्द्र सिंह जी कोहली (पंजाबी विभाग-अध्यक्ष, पंजाब (विश्वविद्यालय) तथा प्रो० दिलीप सिंह जी दीप (पंजाब एग्रीकल्चर यूनिवर्सिटी, हिसार) ने सारी व्याख्या सुन कर अपनी प्रौढ़ सम्मति तथा इस कृति को शीघ्र प्रकाशित करवाने का सुहृद् प्रोत्साहन दिया।

वेदाचार्य श्री मदन मोहन शर्मा, तथा श्री रामस्वरूप गुप्त जी ने हस्तलिपि को पढ़ा और इसके प्रकाशन में बड़ा उत्साह दिखाते हुए प्रूफ पढ़ने में भी हाथ बंटाया।

डा० सरनदास भनोत जी ने 'दर्पण' को पढ़ कर उस पर 'वक्तव्य' लिख भेजा और भाई इन्द्र सिंह गुलाटी जी ने एक सौ प्रतियों का खर्च अग्रिम देकर इस टीका के प्रकाशन में उत्साह बढ़ाया।

उपर्युक्त सज्जनों तथा अनेक अन्य विद्वानों के प्रति, जिनके सहयोग से यह कार्य सम्पूर्ण हुआ है, लेखक अति कृतज्ञ है।

अमर जीत सिंह 'धवन'
लाईफ इन्श्योरेन्स कार्पोरेशन आफ इण्डिया
सैक्टर १७— चण्डीगढ़

दो शब्द

श्री जपुजी पर विभिन्न टीकाएं हिन्दी तथा पंजाबी में उपलब्ध हैं। प्रत्येक टीकाकार अपनी ओर से 'श्री जपुजी' के अर्थों को अधिक से अधिक स्पष्ट करने का भरसक प्रयत्न करता है, किन्तु गुरूवाणी के गहन अर्थों का स्पष्टीकरण उतना सरल नहीं है।

प्रस्तुत टीका की हस्तलिपि मैंने पढ़ी और मुझे लगा कि इसमें गुरूवाणी को सरस तथा सरल भाषा में हिन्दी के पाठकों के सामने लाया गया है। हिन्दी जगत् के पाठक इस कृति से जपुजी को वास्तविक रूप में ही समझ सकेंगे। वास्तव में श्री जपुजी की भाषा हिन्दी के उतने ही समीप है जितनी पंजाबी के। इससे पंजाबी भाषा को जानने वाले हिन्दी पाठक जपुजी के अर्थों को बिल्कुल भी न समझते हों, ऐसी बात नहीं। समझते हुए भी यह टीका मूल के विशेष निकट होने से पाठकों के लिए बड़ी उपादेय है।

सरदार अमर जीत सिंह जी की लेखनी शुद्ध, सरल तथा सरस भाषा का उद्गार करती है।

टीकाकार ने मूल-वाणी को अंकित करके नीचे केवल कठिन शब्दों के अर्थ ही नहीं दिए हैं, अपितु आवश्यक पाद-टिप्पणी भी दी है। इन दोनों के बीच में गुरूवाणी की व्याख्या की गई है। ऐसा आभास होता है कि मूल और शब्दार्थ रूपी दो किनारों के बीच एक सरस एवं शान्त स्रोतस्विनी अपना मार्ग तय करती जा रही है।

इस टीका की सब से बड़ी विशेषता 'कम शब्दों में गहन भावों का प्रकटीकरण' है ; टीकाकार ने गागर में सागर भरा है।

इसे पढ़कर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कृति टीकाकार के दीर्घकालीन अथक परिश्रम और शुद्ध, सच्ची भक्ति, निष्ठा-युक्त गहन अध्ययन तथा मनन का एक अपूर्व फल है। वास्तव में हार्दिक निष्ठा और श्रद्धा के बिना ऐसी रचना सम्भव नहीं हो सकती।

मुझे आशा और पूर्ण विश्वास है कि लेखक के सफल परिश्रम द्वारा रचित इस टीका का हिन्दी संसार स्वागत् करेगा और यह टीका उचित सम्मान प्राप्त करेगी।

श्री अमर जीत सिंह जी के इस सफल प्रयास को देखकर उन से भविष्य में बहुत कुछ करने की अपेक्षा की जा सकती है और मेरा विश्वास है कि यह आशा सफल होगी।

मदन मोहन शर्मा
सर्व-दर्शन धर्म-शास्त्री वेदाचार्य, एम.ए.
अध्यापक, संस्कृत-विभाग
Member Languages Faculty (Pb. University)

निवेदन

'जपुजी' जगद्गुरू, गुरू नानक देव जी की प्रौढ़तम रचना है। यह सिख-पंथ के धर्म-ग्रन्थ की आदिवाणी है। इसकी सूत्रात्मक शैली का ध्यान रखते हुए यदि इसे 'आदिग्रन्थ' की प्रस्तावना या सार कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

'जपुजी' में दर्शन और काव्य का सामंजस्य बड़े ही अद्भुत एवं मनोहर ढंग से हुआ है। 'आदिग्रन्थ' की अन्य वाणियों की तरह इसके प्रारम्भ में किसी राग का संकेत नहीं दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह वाणी व्यक्तिगत चिन्तन एवं स्वाध्याय के लिये है। वैसे सहज ही इसे बड़े मधुर स्वर में गाया भी जा सकता है। इसकी अढ़तीस पौड़ियां और आदि तथा अन्त में एक एक श्लोक हैं। इसमें मानव जीवन की मौलिक समस्याओं के संक्षिप्त हल देकर प्रभु-मिलन की वैज्ञानिक, सरस एवं स्पष्ट राह दिखाई गई है।

यह वाणी इतनी लोक-प्रिय है कि इसके प्रकट होने के समय से ही असंख्य लोगों का प्रतिदिन इसके पाठ से प्रारम्भ होता आया है। वर्तमान काल में भी संसार के कोने कोने में श्रद्धालु-जन इसे अपने कंठों का हार बनाये हुए हैं। अपने शाश्वत दर्शन एवं सार्वभौमिक सत्सन्देश के फलस्वरूप भविष्य में भी 'जपुजी' माया प्रताड़ित आत्माओं को शान्ति देकर मानवमात्र का सदैव पथ-प्रदर्शन करती रहेगी, ऐसा मेरा दृढ़ बिश्वास है।

श्री गुरू जी के अध्यात्मवाद एवं दर्शन का मूल-सूत्र होने के कारण 'जपुजी' में निहित सूक्ष्म भावनाओं को समझना मानव-बुद्धि के लिए अति कठिन है।

कई वर्ष पहले जब मैंने 'जयुजी' का प्रात: पाठ करना ग्रारम्भ किया तो बड़ा ग्रानन्द प्राप्त होने लगा। एक बार मन में ग्रचानक ग्रर्थ जानने की इच्छा हुई। कई सज्जनों से ग्रर्थ समझने की चेष्टा की तो उनमें से बहुतों को ग्रपने जैसा ही पाया। फिर मन में एक संशय-सा उत्पन्न हुग्रा कि बिना ग्रर्थ समझे पढ़ने का क्या लाभ ? यह प्रश्न कई मित्र जनों के सम्मुख उठाया गया तो उत्तर मिला कि संसार के लगभग सभी धर्म-ग्रन्थ ऐसी भाषाग्रों में हैं जो उनके सभी ग्रनुयायियों की समझ में नहीं आतीं। तो क्या वे उन्हें पढ़ना छोड़ देते हैं ? फिर 'जपुजी' तो पंजाब की जन-साधारण की भाषा, पुरानी पंजाबी में ही है जो ग्रब ग्रपने नूतन रूप में पंजाब-निवासियों की मातृ-भाषा है। ग्रस्तु ! पाठ जारी रहा जिसका बड़ा लाभ यह हुग्रा कि ध्यान पहले से ग्रधिक जमने लगा ग्रौर ग्रर्थ भी धीरे-धीरे ग्रपने-ग्राप कुछ कुछ साफ होने लगे। 'जपुजी' की कई टीकाग्रों का ग्रध्ययन किया गया। हर पुस्तक में कोई न कोई नई बात देखने को मिली। जितनी पुस्तकें सामने ग्राईं उनमें से कुछ तो ग्रधिक पुरानी होने के कारण काफी कठिन थीं ग्रौर कुछ में मूल पाठ की एक-एक पंक्ति के ग्रनेक ग्रर्थ दिए गए थे जो लाभकारी होने की ग्रपेक्षा संशय ग्रौर ठीक ग्रर्थ ग्रहण करने में ग्रसुविधा ग्रधिक उत्पन्न करते हैं।

'जपुजी' की टीकायें पंजाबी भाषा में ही सर्वाधिक उपलब्ध हैं परन्तु देश में पंजाबी की ग्रपेक्षा हिन्दी-भाषा का ज्ञान रखने वालों की संख्या कहीं ग्रधिक है। ग्रौर फिर, हिन्दी तो राष्ट्रभाषा पद पर भी ग्रासीन है। ग्रत: हिन्दी-भाषी संसार को भी इस ग्रमूल्य-निधि, गुरूवाक् का रसास्वादन ग्रवश्य कराना चाहिये परन्तु इस ग्रोर सीमित से प्रयत्न ही पहले हुए हैं।

'जपुजी' की जो दो-चार पुरानी टीकायें हिन्दी-भाषा में उपलब्ध हैं, उनमें गुरूवाणी के भाव को वेदान्त की ग्रोर ग्रधिक घसीट कर

उसकी रूप-रेखा ही बिगाड़ी गई लगती है। वर्तमान काल में डा० जयराम मिश्र, वियोगी हरि और विनोबा जी के प्रयास स्तुत्य हैं।

विनोबा जी इस वाणी से बड़े ही प्रभावित हुए हैं। वे अपनी पुस्तक 'जपुजी' के भाष्य भाग के प्रारम्भ में लिखते हैं : "'जपुजी' में धर्म का निचोड़ रखा गया है।......मुझे यह बहुत भाया है।...... उसका मुझ पर बहुत गहरा असर पड़ा। रात में कभी स्वप्न आये तो उसमें भी गुरू नानक के वचन याद आते थे। चिंतन से उन वचनों का गहरा अर्थ मालूम होता है। इसका जितना चिंतन करो, उतना अधिक मिलता जाता है। मैं चाहता हूं कि इस का असर हिंदुस्तान के लोगों के चित्त पर हो।"

विनोबा जी के उपरोक्त विचार किसी भी स्वतन्त्र विचारक के, जो श्रद्धापूर्वक गुरूवाणी का अवगाहन करे, हो सकते हैं क्योंकि 'आदिग्रन्थ' का अध्ययन करने पर, सहज ही ऐसा ज्ञात हो जाता है कि गुरूवाणी किसी एक जाति, धर्म, प्रान्त या देश की थाती नहीं। वह तो 'सर्वविश्वहिताय' है। भला सूर्य भी किसी एक के लिये उदित होता है ?

श्री गुरू जी निस्सन्देह मानवता के पथ-प्रदर्शक, आदर्श सन्त-कवि थे, ज्ञानज्योति-परिपूर्ण मार्तण्ड। उनकी वाणी देश, काल, पात्र आदि की सीमाओं से स्वतन्त्र मधु-मधुर संगीत-लहरी भरी वह आत्म-गंगा है जो सर्वत्र, सब के लिए उपस्थित है। जो चाहे उसमें स्नान करके माया के ताप से विमुक्त होकर परम-शीतलता का आनन्द ले सकता है। इसी आशय को ध्यान में रख कर यह छोटी सी पुस्तिका धारावाहिक हिन्दी में लिखी गई है।

आशा है, यह प्रयास अपनी राह में अग्रसर होकर हिन्दी संसार की सेवा का भागीदार बन सकेगा।

इस कृति में अनुवाद के साथ साथ संक्षिप्त रूप में आवश्यक व्याख्या भी दे दी गई है ताकि अर्थ अधिक स्पष्ट हो सकें। शब्दों के रूप-जाल में अधिक न उलझ कर उनके पीछे व्यक्त हो रही भावना को छूने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। इस प्रयास में कहाँ तक सफलता प्राप्त हो सकी है, यह पाठकगण स्वयं ही जान लेंगे। वैसे लेखक का ऐसा कोई आग्रह नहीं है।

विनीत

अमर जीत सिंह धवन

जपुजी-रचयिता गुरू नानक देव

(संक्षिप्त–परिचय)

परिवर्तन प्रकृति का एक अनिवार्य गुण है जो सदा सर्वत्र, उपस्थित है। मानव जीवन में भी नवीनता का एक महत्वपूर्ण स्थान है। सम्भवत: इसी लिए कहा जाता है कि "परिवर्तन जीवन है"। परन्तु जीवन परिवर्तन–चक्र पर सवार होकर कभी उन्नति के शिखर पर और कभी अवनति के गर्त्त में जा पहुंचता है। इसी प्राकृतिक प्रवाह के आवर्त्त में घिरे हुए, पन्द्रहवीं शती तक, भारतवर्ष की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी।

लगभग छः सौ वर्ष तक निरन्तर लूटमार करने के पश्चात् मुसलमान आक्रमणकारियों ने अपने पांव उत्तरी–भारत में जमा लिए थे। और अब अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए वे हर प्रकार के घिनौने तथा अमानुषिक ढंगों से हिन्दुओं को मुसलमान बनाने में सयत्न थे। हिन्दू-समाज पारस्परिक फूट के कारण अपनी राजनैतिक सत्ता खो-कर 'दास–वंश' की 'दासता' को भी स्वीकार कर चुका था। हिन्दूओं की यह दासता केवल राजनैतिक ही न होकर व्यवहारिक एवं मानसिक रूप धारण करती जा रही थी। वे धीरे-धीरे शासक-समाज का अनुसरण करके अपनी सभ्यता, धर्म, सदाचार, आत्म-सम्मान आदि को भूलते जा रहे थे।

तत्कालीन मुसलमान शासकों के स्वभाव में, धार्मिक-संकीर्णता एवं क्रूरता का तीक्ष्ण पुट था। 'आदि-ग्रन्थ' में तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का वर्णन इस प्रकार है :

"(आजकल) अपरितोष तथा पाप दोनों राजा और राज्य-सचिव

है। मिथ्याचरण उनकी टकसाल का अध्यक्ष है। भोगविलास उनका सामन्त है जिस के साथ बैठकर विचार-विमर्श किया जाता है। प्रजा ज्ञान-नेत्र विहीन, स्वेच्छा रहित, मृतक की तरह (लोलुपता, पाप, मिथ्याचरण और काम आदि) अग्नि की लपेट में हैं*। राजे, शेरों की तरह हिंस्र और अन्य कर्मचारी कुत्तों की तरह नीचाचारी होकर निर्दोष जनता का रक्त-मांस भक्षण करते हैं"()।

प्रजा मुख्यतः 'हिन्दू' तथा 'मुसलमान' दो श्रेणियों में विभक्त थी। मुसलमान राज्य के मद में मस्त होने के कारण हिन्दुओं को अपने से नीच समझ कर उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट देना ही अपना कर्तव्य बनाये हुए थे। इस का परिणाम यह हुआ कि दोनों पक्ष एक दूसरे के निकट न आकर सामाजिक फूट का शिकार बन गये। एक पूर्व की ओर शीश झुकाता था तो दूसरा पश्चिम दिशा में ही खुदा का घर माने बैठा था।

धार्मिक उपदेशक स्वयं अज्ञान-अन्ध होने के कारण जनता को ठीक राह दिखाने में असमर्थ एवं अयोग्य थे, जिसके फलस्वरूप लोग साधनों (means) को ही साध्य (end) समझ कर अर्थ-हीन रीतियों-कुरीतियों के भ्रम-जाल में फंसे हुए असहाय छटपटा रहे

---

* लबु पापु दुइ राजा महता कुड़ होआ सिकदारु ॥
कामु नेबु सदि पुछीऐ बहि बहि करे बीचारु ॥
अंधी रयति गिआन विहूणी भाहि भरे मुरदारु ॥
(आसा दी वार महला १, आदि-ग्रन्थ' पृ० ४६८—९)

() राजे सीह मुकदम कुते ॥ जाइ जगाइनि बैठे सुते ॥
चाकर नहदा पाइनि घाउ ॥ रतु पितु कुतिहु चटि जाहु ॥
(वार मलार महला १, 'आदि-ग्रन्थ' पृ० १२८८)

थे। सत्य का चन्द्रमा असत्य की अमावस में अदृश्य हो चुका था और इस भयावह अन्धकार में पथ-भ्रष्ट हुई जनता ठोकरें खा रही थी।*

अटल ईश्वरीय-नियमानुसार हर रात्रि के पश्चात् आने वाली ऊषा की तरह मध्यकालीन 'भक्ति-लहर' भावी नवयुग का सन्देश लिये हुए आई और सन् १४६९ ई० में तलवण्डी नामक गांव (वर्तमान पश्चिमी पाकिस्तान के ननकाना साहिब) के पटवारी श्री कल्याण चन्द के घर, संत-प्रवर गुरू नानक देव के रूप में पूर्ण 'ज्ञान-ज्योति-भास्कर' का उदय हुआ। उनकी सती-साध्वी माता का नाम 'तृप्ता' जी था।

बाल्यकाल से ही गुरू नानक देव जी में असाधारण साधुता और अध्यात्मिकता के चिह्न लक्षित होते थे। वे बड़े कुशाग्रबुद्धि तथा प्रवीण थे, परन्तु विद्याध्ययन की अपेक्षा धर्म-चर्चा में उनकी प्रगाढ़ आसक्ति थी। वे अपने शिक्षकों से जीवन-रहस्य के विषय में अति गम्भीर प्रश्न पूछा करते थे जिन की मीमांसा कर सकना उनकी क्षमता से परे की बात थी। इस तरह बालक नानक अपने अध्यापकों के भी गुरू बनकर उन्हें, आध्यात्मिक लेखन-पठन का तात्विक उपदेश दे आए।‡

कुछ बड़े होने पर पिता कालू जी ने उन्हें कृषि आदि कोई कारो-बार करने को कहा तो नानक देव जी ने उत्तर दिया कि वे 'अपने शरीर को ही भूमि बना कर उसमें दैवी गुणों की सहायता से

---

*कूड़ु अमावस सचु चंद्रमा दीसै नाही कह चढ़िआ ॥
हउ भालि विकुंनी होई ॥ आधेरै राहु न कोई ॥
(आदि ग्रन्थ; पृ० १४५)

‡जालि मोहु घसि मसु करि मति कागदु करि सारु ॥
भाउ कलम करि चितु लिखारी गुरि पुछि लिखु बीचारु ॥
(सिरी रागु म० १ 'आदि-ग्रन्थ' पृ० १६)

आन्तरिक कृषि करते हैं†।' उनके विचारानुसार प्रत्येक सांसारिक व्यवसाय का एक आध्यात्मिक पक्ष है जिसकी ओर ध्यान दिए बिना मनुष्य का कोई भी कार्य सार्थक नहीं हो सकता।

कल्याण चन्द जी को अपने पुत्र के भविष्य की चिन्ता सदा सताती रहती थी। उन्होंने एक बार नानक जी को कुछ धन देकर व्यापार करने के लिये कहीं बाहर भेजा। मार्ग में कई भूखे साधू मिल जाने पर नानक जी अपनी सारी पूंजी उनके लिये भोजन और कपड़े आदि जुटाने में खर्च कर आये। उनकी दयार्द्र दृष्टि में सर्वहारा की सहायता करना ही सर्वोत्तम व्यापार था।

नानक जी अब पहले से अधिक मौन और उदासीन रहने लगे थे। इस पर उनके माता-पिता ने सोचा कि 'नानक कहीं बीमार न हों'। यह विचार कौंधते ही एक सुयोग्य वैद्य को इलाज के लिए बुलाया गया परन्तु वह रोग की पहचान करने में असफल रहा। क्या कभी नाड़ी-प्रीक्षण करके भी मनोभावों को समझा जा सकता है?

एतदुपरान्त माता-पिता की चिन्ता दुःख में परिवर्तित हुई देख कर नानक देव जी की बड़ी बहन 'नानकी' जी उन्हें अपने पास सुलतानपुर ले गई जहां उन्होंने तत्कालीन नवाब दौलत खां लोधी के मोदीखाने में नौकरी कर ली। काम में लगे देखकर श्री गुरू जी का विवाह बटाला के क्षत्रीय-वंशीय मूलचन्द की सुपुत्री सुलक्षणी जी से कर दिया गया। उनके 'श्रीचन्द' और 'लक्ष्मीदास' नामक दो पुत्र भी उत्पन्न हुए परन्तु श्री गुरू जी का अन्तर्मन सदैव साधु-सन्तों की संगति में खिंचा रहता था। वे सदा अन्तर्मुख होकर हरि-नाम के रंग में रंगे रहते थे। मोदीखाने में कई बार जब सामान तोलते तोलते तेरह की संख्या पर

---

†मनु हाली किरसाणी करणी सरमु पाणी तनु खेतु॥
नामु बीजु संतोखु सुहागा रखु गरीबी वेसु॥

(रागु सोरठि म० १; 'आदि-ग्रन्थ' पृ० ५९५)

आते तो ('हे प्रभु ! सब कुछ तेरा ही है'— इस भाव से) 'तेरा, तेरा' उच्चारण करते हुए आत्मविभोर हो कर सारा सामान तोल देते। उनकी यह 'असावधानता' देख कर साधारण जनता में ऐसी चर्चा फैल गई कि नानक 'मोदीखाना' लुटाये जा रहा है। यह समाचार नवाब के कानों तक भी जा पहुंचा। उसने तुरन्त माल की जांच करवाई तो सारा हिसाब साफ देखकर सभी अवाक् रह गये।

अन्त, जनता को दासता, द्वेष, दम्भ आदि की अग्नि में जलते हुए देखकर राजयोगी गुरू जी से रहा न गया और वे परम शीतल हरि-नामामृत के अखण्ड भण्डार मानव-मात्र के हितार्थ सर्वत्र उपलब्ध कर देने के लिये घर से एक ऐसे पर्यटन पर निकल पड़े जो संसार के इतिहास में सूर्य की तरह अद्वितीय रूप से ज्वलन्त है।

उस समय मोटर, रेल, वायुवान आदि यातायात के किसी वैज्ञानिक साधन का आविष्कार नहीं हुआ था। अतः श्री गुरू जी ने पैदल ही चार महान यात्रायें करके न केवल सारे भारत का भ्रमण किया, अपितु अरब (मक्का, मदीना आदि), ईरान, मिस्र, रोम, बगदाद, काबुल, कंधार सिक्किम, चीन, तिब्बत, लङ्का आदि विदेशों में भी जाकर मानव-धर्म का प्रचार किया। वे पहले युग-पुरुष थे जिन्होंने स्वदेश से बाहर जाकर 'सुधार' को इतना व्यापक रूप दिया था।

गुरू नानक देव महान् क्रान्तदर्शी मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने काल की चाल को पहचाना, समाज के मानस का सम्यक् अध्ययन किया और युग को अत्यन्त कुशलतापूर्वक एक प्रगतिशील, समन्वयात्मक राह पर मोड़ दिया। स्वभावतः परम-शांतिप्रिय होने पर भी वे अपने समय के पहले क्रांतिकारी राजनैतिक नेता थे जिन्होंने लोगों में पौरुष तथा आत्म-सम्मान की भावना को पुनः जागृत किया।

परिभ्रमण समाप्त करने के पश्चात् श्री गुरू जी अपने बसाये हुए 'कर्त्तारपुर' नामक गांव में रहने लगे। वे स्वयं अपने हाथों से कृषि

करके अपने परिवार का निर्वाह करते थे। उन्होंने वहां पर एक अथितिशाला भी बनवाई थी जहां सब जातियों तथा धर्मों के लोगों को आश्रय और भोजन दिया जाता था।

सन् १५३९ ई० में गुरू नानक देव का शरीरान्त हो गया। उनके पश्चात् गुरू अंगद आदि नौ गुरुओं ने मानव देह धारण करके ज्ञान-ज्योति को प्रज्वलित रखा। अन्तिम देहधारी गुरू गोविन्द सिंह ने इस ज्योति को गुरूवाणी के संग्रह 'आदि-ग्रंथ' और 'पंथ' (अनुयायी समूह) में प्रविष्ट करके गुरूवाणी को मानव-मात्र के लिये एक शाश्वत गुरू-आश्रय के रूप में संस्थापित कर दिया।

नानक-सन्देश

(मुख्यत: जपुजी के आधार पर)

गुरूकुल-शेखर, नानक देव जी ने सामयिक परिस्थितियों का गहन अध्ययन करके 'सिख-धर्म' का प्रवर्त्तन किया। वे जहाँ भी पहुंचे, अपनी गायन एवं वाक्-शक्ति द्वारा लोगों को मुग्ध करके उनपर सत्-सन्देश की वृष्टि करते गये। उनका उपदेश देश, काल, पात्र आदि की सीमा से स्वतन्त्र सारे मानव-समाज के लिये है। उसे किसी भी धर्म के अनुयायी पूर्णतया अपना सकते हैं।

श्री गुरू नानक देव जी का उपदेश संक्षेपत: इस प्रकार है:

एक अद्वितीय परमात्मा है, जो सदा एकरस रहता है। उसकी कोई विशेष आकृति नहीं। सब में उसी की ज्योति प्रकाशित हो रही है। स्वयं-प्रकाशित प्रभु कभी आवागमन में नहीं पड़ता। हरि असीम है अत: सीमित मानव-बुद्धि द्वारा उसे समझा नहीं जा सकता है। उसमें अटल विश्वास रखना और मुक्ति-प्राप्ति के लिये उसकी कृपा दृष्टि का पात्र बनना ही मनुष्य-जीवन का चरमलक्ष्य है।

श्री गुरु जी पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे। जीव अपने किये हुए कर्मों के अनुसार हरि द्वारा आदिष्ट दु:ख-सुख का उपभोग करने के लिये आवागमन के चक्र में पड़ता है। अत: कर्म-काण्ड द्वारा मुक्ति-प्राप्ति का सिद्धान्त उन्हें मान्य न था। पाप कर्म करने से जीव की बुद्धि मलिन हो जाती है। समय पाकर यह माया-मल अधिक प्रगाढ़ हो जाता है और जीव हरि को भूलता चला जाता है। परन्तु निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि इस प्रकार भ्रष्ट हुई बुद्धि को हरिनाम के प्रेम में धोकर फिर से स्वच्छ किया जा सकता है।

सभी जीव पिता परमात्मा की सन्तान हैं अत: संसार में कोई उत्तम या नीच नहीं है। हम सभी भाई-भाई हैं। 'सर्व-विश्व-भ्रातृत्व' की संस्थापना ही गुरु नानक देव द्वारा स्थापित धर्म का वास्तविक उद्देश्य है।

किसी धर्म के केवल अनुयायी हो जाने मात्र से ही कोई लाभ नहीं है। शुभाचरण की परमावश्यकता है। उसके विना मनुष्य को पश्चात्ताप ही करना पड़ता है। इस प्रकार उनका धर्म सक्रिय, व्यवहारिक और क्रियात्मक धर्म है। वह 'पलायनवादी' न होकर 'प्रवृत्ति-मूलक' है।

परमात्मा सृष्टि के सर्वेसर्वा हैं। सब कुछ उनके अनुशासन में है। अत: जीव को चाहिये कि वह सदा अटल ईश्वरीय नियम का अनुसरण करे और 'अहं' का पूर्णतया निरसन करके सत्य-रूप हरि में विलीन हो जाये। इसके लिये बाह्याडम्बरों को अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। हरि सर्व-व्यापक है। अत: अपने कर्तव्य में प्रवृत्त होकर, अपने आचरण को ईश्वर-प्रीति के सांचे में ढालना ही अपेक्षित है।

जपुजी-दर्पण

(मूल-मन्त्र)

१ओं[१] सति[२] नामु करता[३] पुरखु[४] निरभउ[५]
निरवैरु[६] अकाल[७] मूरति[८] अजूनी[९] सैभं[१०] गुरप्रसादि[११] ।।

'जपुजी' के प्रारम्भ में '१ओं' से 'गुरप्रसादि' तक की गद्य-रचना 'मूल-मन्त्र' कहलाती है। इसमें मानव-धर्म के मूल-तत्वों तथा इष्ट, (परमात्मा) के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधन का सूत्र-रूप में वर्णन-किया गया है जो इस प्रकार है :

एक अद्वितीय ओङ्कार (अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त परमात्मा) है। वह 'सत्य' तथा 'नाम'-स्वरूप है। (परमात्मा सदा एकरस रहता है और उसकी कोई विशेष आकृति न होने के कारण केवल 'नाम' ही है)। परमात्मा सारी सूक्ष्म एवं स्थूल सृष्टि का रचयिता, सर्व-शक्तिमान तथा सर्वव्यापक है। उसे न तो किसी से भय है और न वैर। वह समय एवं मृत्यु के प्रभाव से परे, सर्वत्र मूर्त्त है। उसका कोई कारण नहीं अतः वह आवागमन में नहीं आता। उसका किसी योनि (अर्थात् जीव जाति विशेष) से कोई सम्बन्ध नहीं।

परमात्मा का कोई कर्त्ता नहीं, वह अपने आप से प्रकट हुआ है।

पूर्वोक्त विशेषताओं वाला 'हरि' (शब्द-ब्रह्म रूपी ?) गुरु की कृपा द्वारा जाना जा सकता है।

---

१. इक या एक ओङ्कार, अर्थात् एक परमात्मा है। २. सत् सत्य, सत्तावाला। ३. रचयिता। ४. पुरुष; सर्वात्मा। ५. निर्भय; निडर। ६. प्रतिहिंसा रहित। ७. समय और मृत्यु के प्रभाव से स्वतन्त्र। ८. मूर्त्त। ९. अयोनिज; जन्म-मरण विहीन। १०. स्वयम्भू, अपने आप प्रकट होने वाला। ११. गुरू की कृपा द्वारा।

जपु ॥

आदि[१] सचु[२] जुगादि सचु ॥
है भी सचु नानक होसी[३] भी सचु ॥१॥*

'जपु' इस वाणी का शीर्षक है। परन्तु सम्मान-प्रदर्शन के लिये श्रद्धालु-जन इस के साथ 'जी', 'साहिब' या ये दोनों ही शब्द लगाकर इसे 'जपुजी', 'जपु साहिब' और 'जपुजी साहिब' आदि नामों से पुकारते हैं। वैसे, आदि-ग्रन्थ की विषय-सूची में इसका नाम 'जपु-नीसाणु' है।

साधारणतया, किसी नाम, मन्त्र या वाक्य के वारंवार किये जाने वाले उच्चारण को जप कहते हैं। 'भक्ति' एवं 'राजयोग' में इसका विशेष-स्थान है। इस प्रकार यह शीर्षक प्रकट करता है कि यह वाणी दर्शन-प्रधान होने के कारण बार-बार चिन्तनीय है।

'आदि सचु' से 'होसी भी सचु' तक की काव्य-रचना 'आदि-श्लोक' है। इस में सत्य-स्वरूप परमात्मा का मङ्गल किया गया है।

श्री गुरू जी कहते हैं कि 'प्रारम्भ में, जब कोई सृष्टि नहीं थी, उस समय केवल परमात्मा ही था। फिर सृष्टि-रचना हो जाने पर जब समय-विभाग (युग आदि) बने तो उनके 'आदि' में भी परमात्मा था। वह अब भी है और भविष्य में भी रहेगा ॥१॥

(इस प्रकार परमात्मा, जिस की सत्ता को मूलमन्त्र में स्वतः सिद्ध मान कर सति तथा नामु स्वरूप बताया गया है, सांसारिक सत्ताओं की तरह परिवर्तनशील या विकारी न होकर एकरस रहने वाली शाश्वत सत्ता है।)

---

१. कालातीत, प्रारम्भिक स्थिति में। २. सत्तावान्। ३. होगा।

*कई सज्जन '१ओं' से 'होसी भी सचु' तक की सारी रचना को 'मूलमन्त्र और कई यहां तक जपुजी का प्रथम चरण (stanza) मानते हैं.....

(शेष अगले पृष्ट पर)

सोचै१ सोचि२ न होवई जे सोची३ लख वार ॥
चुपै चुप४ न होवई जे लाइ रहा लिवतार५ ॥

'मूलमन्त्र' और 'आदि-श्लोक' में परमातमा का स्वरूप दर्शा कर श्री गुरू जी अब उस गम्भीर समस्या को उठाते हैं जो विचारवान् मानव को न जाने कब से एक अबूझ पहेली बनकर उलझाए हुए है। वह समस्या है सृष्टि के रहस्यों को समझने और सृष्टि-कर्ता से भेंट करने की।

श्री गुरू जी कहते हैं कि यदि हम लाखों वार सोचते रहें तो भी परम रहस्यमय प्रभु हमारी समझ में नहीं आ सकता। (ठीक ही तो है; मानव की सीमित बुद्धि असीम हरि का अन्त पाये भी तो कैसे ?)

मौन धारण कर लेने से चिर-शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती चाहे मैं निरन्तर मौन-समाधि लगाए रहूं। (मुंह, कान, आंख आदि बंद करके बैठ जाने से मन थोड़े ही शांत हो सकता है। वह तो अपने चंचल स्वभावानुसार सदैव संकल्प-विकल्पों में ही उलझा रहता है)।

---

१. सोचने से। २. समझ (में)। ३. मैं सोचूं। ४. चुप्पी साध लेने से। ५. अखण्ड मौन-समाधि।

(पिछले पृष्ठ से आगे) ......

हैं। परन्तु खोज के आधार पर ये दोनों ही धारणायें निर्मूल प्रतीत होती हैं। पहली वात तो यह है कि 'जपु' शब्द के पहले और वाद में लगे हुए पूर्ण-विराम के चिह्न 'मूलमन्त्र'; 'जपु' (शीर्षक) और 'आदि-श्लोक' इन तीनों को अलग-अलग सिद्ध करते हैं। अतः यह सारी रचना एक न होने के कारण 'मूलमन्त्र' नहीं हो सकती।

'आदि-श्लोक' के अन्त में लिखे हुए '१' अंक की गिनती आगे आने वाली पौड़ियों में नहीं की गई है इस लिए इसे 'जपुजी' की पहली पौड़ी भी नहीं माना जा सकता है। वास्तव में 'जपु' वाणी 'सोचै सोचि न होवई' से प्रारम्भ होती है और यही उसका पहला चरण है।

भुखिआ[1] भुख न उतरी जे बंना पुरीआ भार ॥
सहस[3] सिआणपा[4] लख होहि त इक न चलै नालि ॥
किव[5] सचिआरा[6] होईऐ किव कूड़ै[7] तुटै पालि[8] ॥
हुकमि[9] रजाई[10] चलणा नानक लिखिआ नालि ॥१॥

तृष्णा के अधीन होकर यदि मैं सभी भुवनों के पदार्थ–समूह एकत्र कर लूँ तो भी भूखे रहने अर्थात् और-और प्राप्त करने की इच्छा रखने से मन की लालसा समाप्त नहीं हो सकती। (ईंधन डालते जाने से आग बुझती नहीं, अपितु पहले से भी और अधिक भड़क उठती है।)

चाहे किसी में हज़ारों, लाखों चतुराईयां हों तो उन में से एक भी प्रभु-मिलन या आत्मिक ज्ञान की राह में सहायक नहीं होती। (आत्मोन्नति के लिये दक्षता या चालाकी की नहीं, आत्म-समर्पण की आवश्यकता है। हरि सर्वज्ञ है और उस के आगे किसी की कोई चतुरता सफल नहीं हो सकती।)

(अब प्रश्न उठता है कि यदि दर्शन–चिन्तन, मौन-साधना और अनेक प्रकार के पदार्थ प्राप्त करके तृष्णा को शान्त करना आदि व्यर्थ हैं तो फिर) जीव और परमात्मा के मध्य जो असत्य (अर्थात् अहङ्कार-रूपी भ्रम) की दीवार है वह कैसे टूटे? किस विधि से जीव द्वारा सत्य को धारण करके सत्यरूप हरि से एकाकार हुआ जा सकता है?

(अब इस पंक्ति में पिछले प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं):

हे नानक! जो प्रभु-परमात्मा ने जीव के साथ ही अंकित कर दिया है, उस आदेश, अनुशासन में हरि की प्रसन्नता के अनुसार चलना ही एक ऐसी युक्ति है जिससे जीव हरि में विलीन हो सकता है ॥१॥

---

१. तृष्णालू रहने से। २. पदार्थ-समूह। ३. सहस्र; हज़ारों। ४. चतुराईयां। ५. कैसे। ६. सत्यधारी। ७. झूठ की। ८. दीवार; भित्ति। ९. अनुशासन में। १०. ईश्वरेच्छा के अनुसार।

हुकमी१ होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई ॥
हुकमी होवनि जीअ२ हुकमि मिलै वडिआई ३॥
हुकमी उतमु नीचु हुकमि लिखि४ दुख सुख पाईअहि५ ॥
इकना६ हुकमी बखसीस इकि हुकमी सदा भवाईअहि७॥
हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ ॥

(पिछले चरण में प्रभु-मिलन के लिए ईश्वरीय आदेश में रहने की युक्ति अपनाने की शिक्षा दी गई थी। 'वह आदेश क्या है ? कैसा है ?' अब इस की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि) :

परमात्मा के आदेश का पूर्ण रूप से कथन नहीं किया जा सकता परन्तु यह सर्वथा सत्य है कि सृष्टि में जो भी सूक्ष्म या स्थूल (आकृतियों वाले) पदार्थ हैं वे सब इस आदेश द्वारा ही बनते हैं।

ईश्वरीय आदेश द्वारा ही जीव उत्पन्न होते हैं और उन्हें सृष्टि के विकास-क्रम में, मनुष्य-जीवन की बड़ाई भी इसी आदेश द्वारा प्राप्त होती है।

परमात्मा के आदेश द्वारा ही कोई उत्तम या नीच आचरण वाला बनता है। जीव द्वारा किए हुए कर्मों के परिणाम-स्वरूप निश्चित हुए दुःख या सुख भी इसी आदेश अनुसार भोगे जाते हैं।

(परमात्मा की आज्ञा मानने वाले) कई जीवों को इसी आदेश द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है और (हरि की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने के कारण) कई जीव सदा आवागमन के चक्कर में फिराये जाते हैं।*

इस प्रकार सब कुछ अर्थात् सारा संसार ही परमात्मा की अधीनता में है। उनके अनुशासन से स्वतन्त्र कोई या कुछ भी नहीं है।

१. ईश्वरीय आदेश द्वारा। २. जीव-जन्तु। ३. बड़ाई; शोभा। ४. निश्चित। ५. पाये जाते हैं। ६. कईयों को। ७. फिराये जाते हैं।

*जीव के जन्म-मरण तथामुक्ति भी ईश्वरीय नियम के अधीन हैं।

नानक हुकमै जे बुझै त हउमै[1] कहै न कोइ ॥२॥
गावै को[2] ताणु[3] होवै किसै ताणु ॥
गावै को दाति[4] जाणै नीसाणु[5] ॥
गावै को गुण वडिआईआ चार[6] ॥
गावै को विदिआ[7] विखमु[8] वीचारु ॥

हे नानक !* यदि कोई इस ईश्वरीय आदेश को बूझ, समझ ले तो फिर वह अहङ्कार नहीं करता। (वह तो सर्वत्र, सब कुछ परमात्मा के आदेश में बन्धा हुआ अनुभव करके अपनी अलग सत्ता को ही भूल जाता है। फिर 'अहं' कौन करे ?) ॥१॥

(ईश्वरीय आदेश अवर्णनीय है परन्तु लोग अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार परमात्मा का कई प्रकार से वर्णन करते हैं।)

जिस किसी को सामर्थ्य प्राप्त है, वह परमात्मा के बल का गायन करता है। (शक्तिशाली लोगों का परमात्मा को बलवान् कहना स्वभाविक ही है। अतः वे उसकी अनन्त शक्ति का वर्णन करते हैं।)

कोई परमात्मा के दिये हुए पदार्थों को उसकी दानशीलता के प्रतीक जानकर—उसका वर्णन करते हैं। (उत्पत्ति काल से ही जीव अपूर्ण एवं अभाव-ग्रस्त रहा है अतः अधिकतर लोग सकाम भक्ति करते हैं। उन्हें जो कुछ प्राप्त होता है वे उसके आधार पर ही परमात्मा के विषय में अपनी धारणायें बना लेते हैं।)

कोई 'हरि' के सुन्दर गुणों और बड़ाईयों का गायन करता है। कोई उसका वर्णन विषम विचार वाली गूढ़ एवं कठिन दार्शनिक विद्या द्वारा करता है।

---

१. अहङ्कार। २. कोई। ३. बल; शक्ति। ४. ईश्वर-प्रदत्त पदार्थ। ५. निशान; प्रतीक। ६. चारु; सुन्दर। ७. विद्या द्वारा। ८. कठिन।

*श्री गुरु जी अपने आप को सम्बोधित करते हैं।

गावै को साजि१ करे तनु खेह२ ॥
गावै को जीअ३ लै फिरि देह ॥
गावै को जापै४ दिसै दूरि ॥
गावै को वेखै हादरा हदूरि५ ॥
कथना कथी न आवै तोटि६ ॥
कथि कथि कथी कोटी कोटि कोटि ॥
देदा दे लैदे थकि पाहि ॥

कोई यह कहकर परमात्मा की स्तुति करता है कि वह शरीर की रचना करके उसे राख कर देता है।

(पुनर्जन्म में विश्वास रखने वाले) कई लोग ऐसा कहते हैं कि परमात्मा जीवात्मा को एक शरीर से निकाल कर किसी दूसरे में प्रविष्ट कर देता है। (और इस प्रकार जीव अपने किए हुए कर्मों के अनुसार एक योनि से दूसरी में जन्म लेते रहते हैं।)

कोई कहता है कि परमात्मा बहुत दूर भासित होता है (तो) कोई कहता है कि वह सब जगह, सब-कुछ प्रत्यक्ष देख रहा है (अर्थात् परमात्मा सर्वव्यापी तथा सर्वान्तर्यामी है)।

इस प्रकार कहे हुए कथनों का कोई अन्त ही नहीं मिलता क्योंकि एक ने नहीं बल्कि करोड़ों ही कथक्कड़ों ने यह कथा करोड़ों बार कह कह कर फिर कही है।

(किस में इतनी शक्ति है जो प्रभु के सभी गुणों का वर्णन कर सके ? तनिक उसके एक दातृत्व गुण को ही देखिये) :

दाता प्रभु सब को निरन्तर देता ही जाता है (परन्तु) लेने वाले (जीव) थक जाते हैं। (वे शरीरों को छोड़-छोड़ कर आवागमन के

---

१. रचना करके; बनाकर। २. राख; मिट्टी। ३. जीवात्मा को। ४. भासित होता है। ५. प्रत्यक्ष। ६. समाप्ति; अन्त।

जुगा जुगंतरि खाही खाहि१ ॥
हुकमी२ हुकमु चलाए राहु ॥
नानक विगसै३ वेपरवाहु ॥३॥

साचा साहिबु४ साचु नाइ५ भाखिआ६ भाउ७ अपारु ॥

के चक्र में घूमते हुए अनेक) युग-युगान्तरों तक ईश्वर-प्रदत्त पदार्थों का उपभोग करते चले जाते हैं।

हे नानक ! उस सर्वशासक प्रभु-परमात्मा का आदेश ही सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य-व्यापार को चला रहा है। और वह स्वयं निश्चिन्त यह सब कुछ देख कर सदा विकसित रहता है। (परमात्मा पर सृष्टि-संचालन का कोई भार नहीं पड़ता क्योंकि यह सब उसके अटल नियम में बंधा हुआ अपने आप चलता रहता है) ॥३॥*

परमात्मा सदा अविकृत रहने वाला सब का स्वामी है। उसका सृष्टि-संचालक नियम अटल है। अपार-प्रेम उस (से बातें करने) की भापा है। (अत्यन्त प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा से भगवान् का कोई विशेष लगाव नहीं है। वह सभी भाषायें भली प्रकार समझता है।)

---

१. खाते ही जाते हैं। २. हाकिम, शासक का। ३. प्रसन्न होता है। ४. स्वामी; मालिक। ५. नियम। ६. भाषा। ७. प्रेम।

*इस पद में मानव-बुद्धि की परिमितता का अतीव सुन्दर वर्णन किया गया है। जो भी कोई परमात्मा के विषय में कुछ कथन करता है वह केवल एक पहलू को ही छू पाता है। भिन्न-रुचि मनुष्यों के अनुभवों तथा वर्णनों का विभिन्न होना स्वभाविक ही है। वे अन्धों के 'हस्ति-वर्णन' की तरह अपने आप में ठीक होने पर भी वाद-विवाद में फंस जाते हैं। इसलिये आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिये अन्तर्मुख होकर 'सुरति-साधना' का पल्ला पकड़ना परमावश्यक है।

आखहि[1] मंगहि देहि देहि दाति करे दातारु ॥
फेरि कि अगै रखीऐ जितु दिसै दरबारु ॥
मुहौ[2] कि बोलणु[3] बोलीऐ जितु[4] सुणि धरे पिआरु ॥
अमृत वेला सचु नाउ वडिआई वीचारु ॥
करमी[5] आवै कपड़ा नदरी[6] मोखु दुआरु ॥
नानक एवै[7] जाणीऐ सभु आपे[8] सचिआरु[9] ॥४॥

दो दो कहते हुए जीव (अपनी अपनी भाषाओं) में याचना करते हैं और दाता प्रभु (उन विभिन्न भाषाओं को पूर्णतया समझ कर) सब जीवों को अनेक पदार्थ दान देता है।

(जब सब को प्रभु स्वयं ही देता है तो सब कुछ उसी का हुआ) फिर उसके सामने नैवेद्य के रूप में कौनसी वस्तु रखें जिस के फल-स्वरूप हरि का दरबार दिखाई दे जाय ? और मुंह से क्या वचन कहें जिसे सुन कर प्रभु हम से प्यार करने लगे।

(श्री गुरु जी उपरोक्त प्रशनों के उत्तर में युक्ति बताते हुए कहते हैं कि ब्रह्म-महूर्त्त (अर्थात् भोर के समय) में हरि-नाम का स्मरण और उस की वड़ाईयों का चिन्तन करना चाहिये। (यही एक सरल एवं श्रेष्ठ साधन है। इस के अतिरिक्त कर्म-काण्ड में नहीं पड़ना चाहिये क्योंकि शुभ-अशुभ कर्म करने से (उत्तम या नीच वृत्ति वाली योनियों में जन्म लेने पर केवल) शरीर रूपी कपड़ा ही प्राप्त होता है। (कर्म जीव के लिये बन्धन हैं।) प्रभु का दरबार और मोक्ष तो उसकी कृपा दृष्टि के पात्र बनने से ही प्राप्त हो सकते हैं।

हे नानक ! इस प्रकार जान लेना चाहिये कि सत्य-स्वरूप परमात्मा आप ही सब कुछ है। (वह संसार का सर्वेसर्वा है) ॥४॥

१. कहते हैं। २. मुंह द्वारा। ३. वचन; शब्द। ४. जिसके फलस्वरूप। ५. कर्मों द्वारा। ६. प्रभु की कृपा दृष्टि द्वारा। ७. इस प्रकार। ८. आप ही। ९. सत्य रूप परमात्मा।

थापिआ[1] न जाइ कीता न होइ ॥
आपे आपि[2] निरंजनु सोइ[3] ॥
जिनि सेविआ[4] तिनि पाइआ मानु ॥
नानक गावीऐ गुणी निधानु[5] ॥
गावीऐ सुणीऐ मनि रखीऐ भाउ ॥
दुखु परहरि[6] सुखु घरि[7] लै जाइ ॥

(मूर्तियों की तरह) परमात्मा किसी विशेष स्थान पर स्थापित नहीं किया जा सकता और न ही किसी द्वारा बनाये जाने पर बन ही सकता है। (हरि की कोई विशेष आकृति न होने के कारण उसकी मूर्ति नहीं बनाई जा सकती। कोई भी मूर्ति परमात्मा नहीं हो सकती क्योंकि सभी मूर्तियां काल के अधीन हैं। फिर हरेक मूर्ति का कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होता है। परन्तु सब के स्रष्टा प्रभु-परमेश्वर तो स्वयं काल के भी महाकाल हैं। उनका कर्त्ता कौन हो सकता है?)

वह मायातीत प्रभु अपने आप से ही प्रकाशित हैं। जिस किसी ने भी उनका सेवन (या सुमिरन) किया, उसने आत्मोन्नति द्वारा हरि-मिलन का वास्तविक मान पा लिया।

(अतः) हे नानक! उस गुण निधि हरि का गुण-गान करना चाहिये।

अस्तु। हरि की स्तुति करनी चाहिये, ध्यान लगा कर उसके गुणों का श्रवण करना चाहिये और मन में उसके प्रति अटूट श्रद्धा एवं प्रेम धारण कर लेना चाहिये।

(जो साधक इस युक्ति को अपनाता है वह) अहं रूपी माया जाल के कारण उत्पन्न हुए पिता-परमात्मा से वियोग के दुःख का परित्याग करके अपने अन्तःकरण में परमानन्द प्राप्त कर लेता है।

---

१. स्थापित किया। २. अपने आप। ३. वह। ४. सेवन किया। ५. गुण निधि; सर्वगुण-सम्पन्न। ६. छोड़ कर। ७. अन्तःकरण में।

गुरमुखि नादं[1] गुरमुखि वेदं[2] गुरमुखि रहिआ समाई ॥
गुरु ईसरु[3] गुरु गोरखु बरमा गुरु पारवती माई ॥
जे हउ जाणा आखा नाही कहणा कथनु न जाई ॥
गुरा[4] इक देहि बुझाई ॥
सभना जीआ का इकु दाता सो मै विसरि न जाई ॥५॥

गुरू की वाणी में ही वर्णों का अव्यक्त मूल-रूप नाद और ज्ञान-भण्डार (वेद) हैं। गुरूवाक् में परमात्मा स्वयं समा रहा है।

(अतः) गुरू ही नाद का स्वामी शिव, योगियों का गुरू गोरखनाथ और वेद-रचयिता ब्रह्मा हैं। गुरू ही पार्वती और लक्ष्मी हैं।

(गुरू नानक देव जी कहते हैं कि) यदि मैं ऐसे सर्वव्यापक सद्गुरु पारब्रह्म परमात्मा* को जान लूं तो कहुंगा नहीं क्योंकि उसका कथन नहीं किया जा सकता। (भाषा आध्यात्मिक अनुभव तथा सूक्ष्म मनोभावों का वर्णन करने में असमर्थ है। अतः परमात्मा को सदा याद रखना ही अपेक्षित है।)

('सुरति' हरि-चरणों में जुड़ी रहे इसके लिये प्रार्थना करते हैं) :

हे सद्गुरु जी ! मुझे ऐसी समझ-बूझ प्रदान करो ताकि जो सब जीवों का दाता एक परमात्मा है वह मुझे कभी भूल न जाये; अर्थात् मैं उसे सदैव याद रख सकूं ॥५॥

---

१. वर्णों का अव्यक्त मूलरूप। योगी लोग इसे सृष्टि की उत्पत्ति का कारण मानते हैं और इसे सुनने के लिये तप साधते हैं। २. ज्ञान-भण्डार। ३. ईश्वर; शिव। ४. हे सद्गुरू जी।

*गुरु नानक देव जी ने अपनी वाणी में अनेक स्थलों पर परमात्मा के लिये 'गुरू' शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि पारब्रह्म ही उनके गुरू थे। यथा :—'ततु निरंजनु जोति सबाई सोहं भेदु न कोई जीउ ॥'
अपरंपर पारब्रहमु परमेसरु नानकु गुर मिलिआ सोई जीउ ॥
(आदि ग्रन्थ पृ० ५९९)

तीरथि नावा[१] जे तिसु भावा विणु[२] भाणे कि नाइ करी ॥
जेती सिरठि[३] उपाई वेखा विणु करमा कि मिलै लई ॥
मति विचि रतन जवाहर माणिक जे इक गुर की सिख[४]
सुणी ॥ गुरा इक देहि बुझाई ॥
सभना जीआ का इकु दाता सो मै विसरि न जाई ॥६॥
जे जुग चारे आरजा[५] होर दसूणी होइ ॥
नवा खंडा विचि जाणीऐ नालि चलै सभु कोइ ॥

मैं तीर्थ-स्नान तो तब करूं यदि ऐसा करने से पति-परमेश्वर को भा सकूं। उसे अच्छा लगे विना तीर्थों पर नहा कर क्या करूं ? (यदि हरि प्रसन्न नहीं होता तो यह सब व्यर्थ है।)

प्रभु की उत्पन्न की हुई जितनी भी सृष्टि देखता हूं उस में कर्मों के विना क्या मिलता है जो मैं भी (केवल स्नान कर के ही) पा लूं ?

यदि सद्गुरू की एक शिक्षा सुन कर उस पर आचरण किया जाये तो साधक की बुद्धि में (हरि-नाम रूपी) रत्न, ज्वाहर, तथा मोतियों जैसे बहुमूल्य दैवी-गुण प्रकाशित हो जाते हैं।

(इसलिये सद्गुरू के सम्मुख ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए) :

हे श्री गुरु जी ! मुझे एक ऐसी समझ (शिक्षा) दो कि जिसके फल-स्वरूप—जो सब का दाता एक-अद्वितीय परमात्मा है वह मुझ से कभी भूल न सके ॥६॥

(योग-अभ्यास करके अपनी आयु को लम्बा कर लेने का भी कोई लाभ नहीं है। यदि किसी मनुष्य की आयु चारों युगों जितनी, अपितु उससे भी दसगुनी लम्बी हो जाये।

वह नवों खण्डों (अर्थात् संसार के सभी भागों में) जाना जाये और सभी लोग उसके अनुयायी हो जायें।

---

१. स्नान करूं। २. विना। ३. सृष्टि। ४. सीख। ५. आयु।

चंगा नाउ रखाइकै जसु[1] कीरति[2] जगि[3] लेइ ॥
जे तिसु नदरि न आवई त वात न पुछै के ॥
कीटा अंदरि कीटु करि दोसी दोसु धरे ॥
नानक निरगुणि गुणु करे गुणवंतिआ गुणु दे ॥
तेहा[4] कोइ न सुझई जि तिसु गुणु कोइ करे ॥७॥
सुणिऐ[5] सिध[6] पीर सुरि नाथ[7] ॥

(और वह दूसरों से) अपना अच्छा सा नाम बुलवा कर जगत् में यश और कीर्ति प्राप्त कर ले।

(परन्तु इतना प्रसिद्ध तथा सम्मानित होने पर भी) यदि वह परमात्मा की कृपा-दृष्टि में नहीं आता तो मन से कोई उसकी बात भी नहीं पूछता। (उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता और) ऐसा, वह दोषी कीड़ों में एक तुच्छ कीड़ा बना हुआ (परमात्मा को भूलने के कारण उसकी कृपा-दृष्टि का अपात्र होने का) दोष धारण करता है।

हे नानक! वह दयालु प्रभु गुणहीन जीवों में भी शुभगुण पैदा कर देता है और जो गुणवान् हैं उन्हें भी गुण वह ही देता है।

परन्तु सृष्टि में उस प्रभु जैसा अन्य कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता जो उसकी तरह गुण कर सके। (परम-उदारचित एक, अद्वितीय गुणनिधि हरि सभी गुणों का कर्ता एवं स्वामी स्वयं ही हैं) ॥७॥

[चौथे चरण में हरि-नाम के गायन, श्रवण और मन में उसके प्रति अटूट श्रद्धा एवं प्रेम धारण करने का उपदेश दिया गया था अब पन्द्रहवें चरण तक इसी विषय का सविस्तार वर्णन करते हैं।]

प्रभु का नाम सुनने से* सिद्धों, मुसलमान धर्म-उपदेशकों, देवताओं तथा मुख्य-योगियों की पदवियां तथा उनका ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

१. यश। २. कीर्ति। ३. जगत में। ४. उस जैसा। ५. सुनने से। ६. सिद्धि-प्राप्त योगी। ७. मुख्य-योगी। *(फुटनोट अगले पृष्ट पर)

सुणिऐ धरति धवल[1] आकास ।
सुणिऐ दीप[2] लोअ[3] पाताल ॥
सुणिऐ पोहि न सकै[4] कालु ॥
नानक भगता सदा विगासु[5] ॥
सुणिऐ दूख पाप का नासु ॥८॥
सुणिऐ ईसरु बरमा इंदु ॥

सुनने से ही धरती, उसको आश्रय देने वाले कल्पित बैल 'धवल' और आकाश की वास्तविकता का पता चल जाता है।

'नाम' सुनने से ऐसा ज्ञान हो जाता है कि सभी द्वीपों, भुवनों तथा पातालों की कार्यवाही एक ईश्वरीय नियम के अधीन है।

(परमात्मा की तरह उसका नाम भी काल-जाल की फांस में नहीं आता और उसे) सुनने से साधक पर भी काल अपना प्रभाव नहीं डाल सकता।

हे नानक ! (ऐसे प्रभु के नाम में सुरति लगाने वाले) भक्तों को सदा विकास (आनन्द) प्राप्त होता है, क्योंकि नाम सुनने से उसके किये हुए सभी पाप-कर्मों तथा उन से प्राप्त होने वाले दुःखों का नाश हो जाता है ॥८॥

'नाम' सुनने से शिव, ब्रह्मा और देवराज इन्द्र आदि की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। (यह पता लग जाता है कि वे कोई स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं, बल्कि पुराने लोगों द्वारा परमात्मा की अपार शक्ति के विभिन्न पहलूओं को सजीव समझ कर उनके रखे हुए नाम हैं।)

---

१. पृथ्वी को आश्रय देने वाला कल्पित बैल (देखो पौड़ी—१६)। २. द्वीप। ३. लोक; भुवन। ४. प्रभाव नहीं डाल सकता। ५. विकास।

*'सुनने' का अर्थ 'एक कान से अन्दर और दूसरे से बाहर' कदापि नहीं है। यह तो ध्यान लगा कर ज्ञान प्राप्त करने का नाम है।

सुणिऐ मुखि सालाहण मंदु[1] ॥
सुणिऐ जोग जुगति[2] तनि भेद ॥
सुणिऐ सासत[3] सिमृति वेद ॥
नानक भगता सदा विगासु ॥
सुणीऐ दूख पाप का नासु ॥९॥
सुणिऐ सतु[4] संतोखु गिआनु ॥
सुणिऐ अठसठि का इसनानु ॥
सुणिऐ पड़ि पड़ि पावहि मानु ॥

'नाम' सुनने से मन्दमति मनुष्य भी अपने मुंह से प्रभु-परमात्मा की सराहना करने लगते हैं। (उन्हें यह समझ आ जाती है कि सभी देवता हरि के अधीन हैं अतः सबका स्वामी परमात्मा ही श्लाघ्नीय है।)

हरि-नाम सुनने से शरीर के आन्तरिक अर्थात् गुप्त भेदों का ज्ञान हो जाता है और हरि से एक होने की युक्ति आ जाती है।

'सूरति' को नाम में जोड़ देने से शास्त्रों, स्मृतियों और वेदों का तात्त्विक ज्ञान (अपने आप) प्रकाशित हो जाता है।

हे नानक! 'नाम' सुनने से साधकों के दुःखों तथा पापों का नाश हो जाता है और वे सदैव आनन्दमग्न रहते हैं ॥९॥

'नाम' सुनने से सत्य, सन्तोष एवं दिव्य-ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

हरि-नाम सुनने से अठसठ अर्थात् सभी मुख्य तीर्थों का स्नान स्वतः हो जाता है। (हरि-नाम सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। इस में अवगाहन करके वे सभी फल प्राप्त हो जाते हैं जिनके लिये लोग तीर्थों पर मारे-मारे फिरते हैं।)

हरि-नाम एवं गुरु-शब्द का श्रवण करने से साधक उसका अभ्यास करता है तो उसे वह मान स्वयं ही प्राप्त हो जाता है जिसे विद्वान लोग अनेक प्रकार का अध्ययन करके पाने के प्रयत्न करते हैं।

१. मन्दमति। २. योग-युक्ति। ३. शास्त्र। ४. पारमार्थिक तत्व।

सुणिऐ लागै सहजि[1] धिआनु ॥
नानक भगता सदा विगासु ॥
सुणिऐ दूख पाप का नासु ॥१०॥
सुणिऐ सरा गुणा के गाह ॥
सुणिऐ सेख[2] पीर[3] पातिसाह ॥
सुणिऐ अंधे पावहि राहु ॥
सुणिऐ हाथ हीवै असगाहु[4] ॥

'सुरति' को 'नाम' में लगाने से सब इन्द्रियां नियन्त्रित हो जाती हैं और साधक का ध्यान सहजावस्था (के स्वामी, परम-पिता परमात्मा के चरण-कमलों) में लग जाता है।

हे नानक! ऐसे भक्तों को सदा प्रफुल्लता प्राप्त होती है क्योंकि हरि-नाम का श्रवण करने से उनकी पापवृत्तियों (और उन के कारण प्राप्त होने वाले सभी) दु:खों का विनाश हो जाता है ॥१०॥

हरि-नाम सुनने से मनुष्य गुण-सागरों का अवगाहन करने वाले हो जाते हैं अर्थात् वे अनन्त श्रेष्ठ गुणों को ग्रहण कर लेते हैं।

हरि के 'नाम' का श्रवण करने से ही आचार्यों, धर्म-उपदेशकों तथा राजाओं की पदवियाँ और योग्यता प्राप्त हो जाती है। (इस प्रकार हरि-नाम का श्रवण करके साधारण मनुष्य भी, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में सफलता-पूर्वक कार्य करने योग्य हो जाते हैं।)

एकाग्रचित्त होकर, हरि-नाम को सुनने से (ज्ञान-नेत्र-विहीन परमार्थिक) अन्धे भी प्रभु-मिलन की ठीक राह पा लेते हैं।

हरि के नाम का अवगाहन करने से संसार रूपी अथाह सागर की गहराई केवल हाथभर हो जाती है। ('सुरति' को 'नाम' में लगा देने वाले मनुष्य को संसार-सागर की मायावी लहरें डुबो नहीं सकतीं क्योंकि

---

१. सहज अवस्था में। २. आचार्य। ३. धर्म-गुरू। ४. अथाह।

नानक भगता सदा विगासु ॥
सुणिऐ दूख पाप का नासु ॥११॥
मंने[1] की गति[2] कही न जाइ ॥
जे को कहै पिछै पछुताइ ॥
कागदि कलम न लिखणहारु[3] ॥
मंने का बहि करनि वीचारु ॥
ऐसा नामु निरंजनु[4] होइ ॥

वह संसार की असारता को जान कर सदा कमलवत् निर्लिप्त रहता है ।)

हे नानक ! भक्तजन सदा आनन्दित रहते हैं क्योंकि हरि-नाम का श्रवण करने से उनके पाप कर्मों और दुःखों का नाश हो जाता है ।।११।।

[किसी बात को केवल सुन लेना ही पर्याप्त नहीं, अपितु सुने हुए पर विचार करना और उसे व्यवहार में लाना आवश्यक है । व्यवहार जीवन है और पढ़-सुन कर प्राप्त किये हुए ज्ञान को जीवन में ढालना ही उसका वास्तविक लाभ एवं विकास है । अतएव 'श्रवण' की महिमा कहने के पश्चात् अब 'मनन एवं निदिध्यासन' की व्याख्या करते हैं ।]

सुने हुए हरिनाम एवं सत्-उपदेश के अनुसार आचरण को ढालने से प्राप्त होने वाली उच्च-अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता ।

यदि कोई उसका कथन करने का प्रयत्न करता है तो बाद में (ऐसा करने में असफल रहने पर) पश्चात्ताप ही करता है ।

(साधक की उस गति को लिखने के लिये संसार में) न तो कोई ऐसी सशक्त (तथा तीव्रगति वाली) लेखनी है और न ही उसे कागज़ पर लिख सकने वाला कोई सुयोग्य लेखक है ।

जिससे कि (लोग) बैठ कर उसका विचार कर सकें ।

प्रभु-परमात्मा का निर्लिप्त, निर्मल नाम ऐसा सबल है (जो भक्तों को

१. मानने वाला । २. अवस्था; स्थिति । ३. लेखक । ४. मायामल-रहित-Immaculate,

जे को मंनि जाणै मनि[1] कोइ ॥१२॥
मंनै सुरति[2] होवै मनि बुधि ॥
मंनै सगल भवण[3] की सुधि ॥
मंनै मुहि चोटा ना खाइ ॥
मंनै जम[4] कै साथि न जाइ ॥
ऐसा नामु निरंजनु होइ ॥
जे को मंनि जाणै मनि कोइ ॥१३॥

ऐसी अवर्णनीय अवस्था में पहुंचा देता है। परन्तु यह अनुभव तभी होता है) जब कोई (इसे मस्तिष्क की अपेक्षा) मन द्वारा* अपना लेता है ॥१२॥

हरि-नाम का निरन्तर अभ्यास करने से (साधक के) मन और बुद्धि में जागृति आ जाती है।) ('सुरति' नामक उच्चवृत्ति जाग्रत हो जाती है और मन, बुद्धि आदि उसमें समा जाते हैं।)

हरि-नाम का व्यवहार करने वाले को सभी भवनों की सूझ हो जाती है। (वह जीवन के हरेक क्षेत्र में कुशल हो जाता है।)

'नाम' अपना लेने से (जीव अन्त-समय) मुंह पर (यम की) चोटें या मार नहीं खाता, क्योंकि नाम-अभ्यासी साधक तो देह त्याग कर यमदूतों के साथ (उनका बन्दी बन कर) ही नहीं जाता।

यदि कोई मन लगा कर उसका मनन एवं अभ्यास करे तो प्रभु का निर्मल, निर्लिप्त नाम ऐसा गुणकारी सिद्ध होता है ॥१३॥

---

१. मन द्वारा (में) २. जागृति; चेतना। ३. भुवन। ४. यमदूत।

*हम बहुत सी बातों को बुद्धि द्वारा मानते हुए भी मानसिक तौर पर नहीं अपनाते। उदाहरणार्थ : सभी जानते हैं कि हरेक को एक न एक दिन मर जाना है। परन्तु फिर भी किसी मित्र-बन्धु की मृत्यु हो जाने पर हम शोकातुर हो उठते हैं और अपनी मृत्यु का ध्यान न करके सांसारिक बन्धनों में जुते रहते हैं। (शेष अगले पृष्ट पर)

मंनै मारगि[१] ठाकि[२] न पाइ ॥
मंनै पति सिउ[३] परगटु जाइ ॥
मंनै मगु[४] न चलै पंथु ॥
मंनै धरम सेती[५] सनबंधु ॥
ऐसा नामु निरंजनु होइ ॥
जे को मंनि जाणै मनि कोइ ॥१४॥

हरि-नाम धारण करने से साधक के जीवन-मार्ग में कोई बाधा नहीं पड़ती। (उसके लिये आत्मिक उन्नति की राह सहज, सरल हो जाती है।)

'नाम-अभ्यास' द्वारा (साधारण जीव भी आदर-सहित, प्रकट रूप से (प्रभु-परमेश्वर के दरबार की ओर बढ़ता) जाता है।

हरिनाम में मन एवं 'सुरति' जोड़ कर आचरण करने से साधक संसार में प्रचलित नाना प्रकार के मत-मतान्तरों में से किसी विशेष मत की परिधि में बद्ध हो कर नहीं चलता। (वह किसी प्रकार की दुबिधा या वाद-विवाद में नहीं पड़ता क्योंकि)।

'नाम-अभ्यास' द्वारा उसका सम्बन्ध (सब धर्मों की आत्मा) ईश्वरीय नियम से स्थापित हो जाता है। ('धर्म' उसका सुहृद् बन जाता है।)

ऐसा है परमात्मा का मायामल-रहित, परम-पावन नाम! परन्तु यह अनुभव वही कर सकता है जो इसे मन द्वारा मान या अपना लेता है॥१४॥

---

१. मार्ग में। २. बाधा; रुकावट। ३. सहित। ४. रास्ता। ५. साथ।

(पिछले पृष्ट से आगे)

परन्तु नाम का सुनना, एवं मानना कोई बौद्धिक सिद्धान्त अथवा कल्पना न हो कर एक वास्तविक, अभ्यासीय तथा व्यवहारिक अनुशासन है जिसमें चित्त को स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाकर अन्तर्मुख किया जाता है; मन को-जो साधारणतः हमारे सभी कामों को नियन्त्रित करता है—हरिनाम में सुनियोजित कर दिया जाता है। यह 'सुरति-साधना' है।

मंनै पावहि मोख[1] दुआरु ॥
मंनै परवारै साधारु[2] ॥
मंनै तरै तारे गुरु सिख ॥
मंनै नानक भवहि न भिख[3] ॥
ऐसा नामु निरंजनु होइ ॥
जे को मंनि जाणै मनि कोइ ॥१५॥

(सुरति द्वारा निरन्तर) हरि-नाम का अभ्यास करने से जीव (भवबन्धन से) मुक्त होने की राह अथवा युक्ति पा लेते हैं।

नाम-अभ्यास द्वारा साधक अपने (समाज) परिवार को हरि-नाम पर आधारित कर देता है। (वह दूसरों के सम्मुख एक स्पृहणीय उदाहरण स्थापित करके उन्हें भी 'नाम' का आश्रय प्रदान करता है।)

इस प्रकार 'हरिनाम' एवं सुमिरन में मग्न रहने से उपदेशक स्वयं संसार-सागर से पार हो जाता है और (आत्मिक उन्नति की राह दिखा कर) अपने शिष्यों को भी पार कर लेता है।

हे नानक ! हरि-नाम में सुरति जोड़ कर आचरण करने से जीव भिक्षा के लिये द्वार-द्वार पर नहीं भटकते।*

ऐंसा है प्रभु का निर्मल नाम। परन्तु यह अनुभव वही कर सकता है जो इसे मन द्वारा मान (अर्थात अपना) लेता है॥ १५ ॥

[जो मनुष्य हरि नाम के श्रवण, मनन आदि का निरंतर अभ्यास करते हैं वे ही पंच अर्थात् पूर्ण-सन्त हैं।]

१. मोक्ष ; मुक्ति। २. आधार-सहित। ३. भीख ; भिक्षा।

*याचना अपूर्णता की निशानी है। परन्तु नाम-अभ्यास द्वारा प्राप्त हुए मोक्ष-द्वार में प्रविष्ट होकर जीव हरि में समा कर पूर्ण हो जाते हैं। वे स्वयं दाता बन जाते हैं ; उन्हें कोई अभाव नहीं रहता। अतः वे किसी से कुछ नहीं मांगते।

पंच[1] परवाण[2] पंच परधानु ॥
पंचे पावहि दरगहि मानु ॥
पंचे सोहहि दरि राजानु[3] ॥
पंचा का गुरु एकु धिआनु ॥
जे को कहै करै वीचारु ॥
करते कै करणै नाही सुमारु[4] ॥

ऐसे महात्मा ही सर्वत्र स्वीकृत होते हैं। (सुमिरन द्वारा उनका आचरण सच्चा तथा पूर्णतया विकसित हो जाता है। उनका जीवन मानवता का आदर्श है। वे पलायनवादी न हो कर सदैव परोपकार में प्रवृत्त रहते हैं। अतः) वे मानव समाज में प्रमुख माने जाते हैं।

(इतना ही नहीं) 'पंच' ईश्वरीय दरबार में भी आदर पाते हैं और सर्व-सम्राट हरि के राज-द्वार पर सरदारों की भांति शोभा देते हैं। (किन्तु इस उच्च पद पर पहुंच कर भी वे अहंकार नहीं करते।)

उनका ध्यान सदैव एक, अद्वितीय गुरू परब्रह्म की ओर केन्द्रित रहता है। (उनके सभी कार्य हरि को साक्षी मान कर किए जाते हैं; अतः प्रमाणिक होते हैं।)

यदि कोई मनुष्य हरि-भक्ति की उपेक्षा करके सृष्टि तथा कर्तार प्रभु का वर्णन करने लगे तो उसे चाहिये कि वह पहले कुछ विचार कर ले। उसे मालूम हो जायेगा कि (परमात्मा का तो क्या उसकी) रची हुई सृष्टि का (भी) कोई हिसाब नहीं है।

(कुछ लोगों का ऐसा मत है कि हमारी पृथ्वी एक बैल के सींगों पर टिकी हुई है। परन्तु यह एक निर्मूल भ्रम है। इसका निवारण करते हुए श्री गुरू जी कहते हैं कि वास्तव में)

१. सन्त। २. स्वीकृत। ३. राजानक; सरदार। ४. शुमार; गिनती।

धौलु धरमु[1] दइआ का पूतु[2] ॥
संतोखु थापि रखिआ जिनि सूति ॥
जे को बुझै होवै सचिआरु ॥
धवलै उपरि केता भारु ॥
धरती होरु परै होरु होरु ॥
तिसते भारु तलै कवणु जोरु ॥
जीअ जाति रंगा के नाव ॥
सभना लिखिआ वुड़ी[3] कलाम[4] ॥
एहु लेखा लिखि जाणै कोइ ॥

परमात्मा की दया से उत्पन्न हुआ धर्म (अर्थात् ईश्वरीय नियम ही धवल (बैल) है जिसने सन्तोष रूपी सूत्र द्वारा हरेक पदार्थ एवं शक्ति को अपने-अपने कर्तव्य तथा स्थान पर टिका रखा है।

यदि कोई सत्यशील पुरुष हो तो वह इस रहस्य को भली प्रकार समझ ले कि यदि धरती एक बैल पर ही टिकी हुई है तो इस बेचारे पर कितना भार है ? क्योंकि सृष्टि में हमारी धरती के अतिरिक्त, परे से परे, असंख्य ही अन्य पृथ्वियां हैं।(क्या उन सब को वह बैल ही उठाये हुए है ?)

तनिक सोचों तो कि जिस बैल पर इतना भार है उसके नीचे कौन सी शक्ति है (जिस पर वह आप खड़ा है ?)

सृष्टि में कई जातियों, रंगों तथा नामों वाले जीव हैं। उन सब को सदा बहती हुई ईश्वरीय लेखनी ने चित्रित किया है। (अतएव परमात्मा आप ही इन सब के हिसाब-किताब को जानता है)।

क्या परम-पिता परमात्मा के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति भी यह सारा विवरण लिख सकता है ?

---

१. नियम ; मर्यादा। २. पुत्र। ३. सदा बहने वाली। ४. वाक्य;लेखनी।

लेखा लिखिआ केता होइ ॥
केता ताणु सुआलिहु[१] रूपु ॥
केती दाति जाणै कौणु कूतु[२] ॥
कीता पसाउ[३] एको कवाउ[४] ॥
तिसते होए लख दरीआउ[५] ॥
कुदरति कवण कहा वीचारु ॥
वारिआ न जावा एक वार ॥

फिर, लिखा जाने से यह लेखा कितना (बड़ा) हो जायेगा ?

परमात्मा का कितना बल है ? उसका (बनाया हुआ) कितना सौंदर्यमय रूप (या आकार) है ? उसके दिये हुये पदार्थ कितने हैं ? इसका अन्दाज़ा कौन लगा सकता है ? (अर्थात् कोई भी नहीं। ईश्वर का हरेक गुण मानव-बुद्धि की पहुंच से परे है। उसका लेखा-जोखा तो कोई क्या करेगा; पहले उसका ठीक-ठीक अनुमान ही सम्भव नहीं है।)

(भला सोचो कि वह परमात्मा कितना महान् है जिसके) एक ही शब्द (स्पन्दन) ने संसार का सारा प्रसार कर दिया। उस (शब्द) से ही रचना के लाखों प्रवाह चल पड़े।

(आत्म विभोर हुए श्री गुरू जी यहां जरा रुक जाते हैं और फिर अति विनम्र भाव से कह उठते हैं) :

हे प्रभु ! आप की प्रकृति का क्या विचार करूं ? क्या कहूं ? इसका पूरा कथन कर सकूं, मुझ में इतनी सामर्थ्य कहां ? क्यों न एक ही बार आप पर निछावर हो जाऊं ?

(इस प्रकार हरि-भक्त विस्मयकारी प्रभु की अनन्तता को दृढ़ कर लेते हैं। वे किसी प्रकार के भ्रम में न फंस कर अपनी राह को सदैव ब्रह्म-ज्योति से प्रकाशित रखते हैं और अहं का सम्पूर्ण त्याग करके हरि-चरणों

---

१. सुन्दर। २. अनुमान। ३. फैलाव। ४. शब्द;स्फुरणा। ५. प्रवाह।

जो तुधु भावै साई[1] भली कार[2] ॥
तू सदा सलामति[3] निरंकार ॥१६॥
असंख जप असंख भाउ ॥
असंख पूजा असंख तपताउ[4] ॥
असंख गरंथ मुखि वेद पाठ ॥
असंख जोग मनि रहहि उदास[5] ॥
असंख भगत गुण गिआन वीचार ॥
असंख सती असंख दातार ॥

में आत्मसमर्पण कर देते हैं और परम आनन्द-मग्न हो कर कह उठते हैं) :

हे प्रभु ! जो आप को पसन्द आए वही कार्य भला (अतएव कर्तव्य तथा सफल) हैं।

(प्रकृति परिवर्तनशील है। सभी आकार नश्वर हैं परन्तु) हे निराकार हरि ! आप सदैव एक-रस रहते हैं ॥१६॥

हे प्रभु ! आपकी सृष्टि में असंख्य ही जप करने वाले तथा आपके प्रति प्रेम रखने वाले जीव हैं। असंख्य ही आप की पूजा करते हैं और तप साधने वाले (तपस्वी लोग) भी अनगिनत हैं।

वेदों तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों का मुंह द्वारा (मौखिक) पाठ करने वाले भी बेशुमार हैं और अनेक योग-क्रियायें करने वाले योगी भी असंख्य हैं जो मन ही मन इस असार संसार से उदासीन रहते हैं।

असंख्य हैं आपके भक्त जो आपका गुण-गान करते हैं और ज्ञानी लोग जो आपका विचार तथा चिन्तन करते हैं।

सत् को धारण करने वाले और दानी लोग भी अनगिनत हैं।

---

१. वह ही। २. क्रिया; कार्य। ३. कायम; सुरक्षित; अपरिवर्तित। ४. तप-ताप ; तपस्या करना। ५. उन्मन ; उदासीन।

असंख सूर मुह भख सार[1] ॥
असंख मोनि[2] लिव लाइ तार ॥
कुदरति कवण कहा वीचारु ॥
वारिआ न जावा एक वार ॥
जो तुधु भावै साई भली कार ॥
तू सदा सलामति निरंकार ॥१७॥
असंख मूरख अंध घोर[3] ॥
असंख चोर हरामखोर ॥

शूरवीर योधे भी असंख्य हैं जो शत्रुओं के सम्मुख हो कर उनसे लोहा लेते हैं। (वे अपनी जान की चिन्ता किये बिना, निर्भीकता से रण में जूझ कर शस्त्र-अस्त्रों की चोटें सहन करते हैं।)

जगत में अनगिनत ही मौन साधु हैं जो (चुप साधने को ही मुक्ति का साधन समझ कर) निरन्तर मौन-समाधि लगाये रहते हैं।

हे प्रभु ! तेरी रचना का क्या क्या वर्णन करूं। मेरी क्या बिसात जो इन सब का विचार कर सकूं, अपितु क्यों न एक ही बार आप पर बलि हो जाऊं ?

हे पिता ! जो आप को अच्छी लगे वही क्रिया भली है।

(सारी सृष्टि उत्पत्ति और विनाश के अधीन है परन्तु) हे निराकार प्रभु ! आप सदैव स्थित रहते हैं ॥१७॥

(संसार में जहां सात्त्विक तथा राजसिक वृत्ति वाले लोग हैं वहां नीच वृत्ति वाले जीवों की भी कोई कमी नहीं है।)

सृष्टि में असंख्य ही मूर्ख तथा घोर-अन्ध, अज्ञानी जीव हैं।

अनगिनत ही दूसरों की सम्पत्ति हरण करने वाले (चोर) हैं और इस तरह फोकट का माल खाने वाले भी असंख्य हैं।

---

१. लोहा ; शस्त्र-अस्त्र। २. मुनि ; मौनी। ३. महामूर्ख।

असंख अमर[१] करि जाहि जोर[२] ॥
असंख गलवढ[३] हतिआ कमाहि ॥
असंख पापी पापु करि जाहि ॥
असंख कूड़िआर कूड़े फिराहि ॥
असंख मलेछ[४] मलु भखि खाहि ॥
असंख निंदक सिरि करहि भारु ॥
नानकु नीचु कहै वीचारु ॥

असंख्य ही शासक (असहाय एवं निर्दोष जनता पर) अत्याचार करके इस लोक से चल बसते हैं। अनगिनत ही दूसरों का गला काटने वाले नृशंस लोग हैं जो (जीव-हत्या का पाप) कमाते हैं।

असंख्य ही अन्य पापी जीव पाप-आचरण कर जाते है।

मिथ्याचारी जीव भी जो सदैव छल-कपट में ही विचरते हैं बेशुमार हैं। (उनका हरेक काम 'हेरा-फेरी' पर आधारित होता है।)

असंख्य ही अघोरी लोग हैं जो मल-मूत्र (आदि घिनौने तथा वर्जित पदार्थ) खाते हैं और अंड-बंड (अथवा अशिष्ट भाषा) बोलते हैं।

अनगिनत ही निन्दक हैं जो दूसरों की बुराईयां करके अपने सिर पर (निन्दा-रूपी पाप का) बोझ उठाते हैं।

नीच नानक यह (कुछ-एक नीचों का) विचार कहता है।*

(हे प्रभु ! मुझ में इतनी सामर्थ्य कहां जो आप की विविध रूप

---

१. शासक। २. अत्याचार; जुल्म। ३. हत्यारा; निर्दयी। ४. भ्रष्ट-बुद्धि।

*इस चरण में नीच वृत्ति वाले लोगों का वर्णन किया गया है। इसे पढ़ कर कोई यह न समझ बैठे कि गुरू नानक अपने आप को ऊंचा समझ कर दूसरों से घृणा करते थे। अतएव वे अपने आप को भी नीचों में सम्मिलित करते हुए 'नीच' कहते हैं। यह उनकी निरहंकारिता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है

वारिआ न जावा एक वार ॥
जो तुधु भावै साई भली कार ॥
तू सदा सलामति निरंकार ॥१८॥
असंख नाव[1] असंख थाव[2] ॥
अगंम[3] अगंम असंख लोअ[4] ॥
असंख कहहि सिरि भारु होइ ॥

जगत-रचना का सम्पूर्ण विचार कर सकूं। (अपितु) क्यों न एक ही बार आप पर निछावर हो जाऊं ?

हे सदा स्थिर रहने वाले आकार-रहित हरि ! जो कार्य आप को पसन्द हो हमारे लिये वही अच्छा है ॥१८॥

संसार में जीवों तथा पदार्थों के अनगिनत नाम हैं और असंख्य ही स्थान हैं (जहां वे पाये जाते या रहते हैं)।*

असंख्य ही ऐसे लोक हैं जो मानव बुद्धि तथा शरीर की पहूंच से परे हैं। (न तो उनकी कल्पना की जा सकती है और न ही वहां पर जाया जा सकता है। अतएव सृष्टि-रचना असंख्य की गणना से भी परे—'अगम्य'—है।)

जो लोग संसार को असंख्य कहते हैं (वे भी अपने भाव को पूर्णतया प्रकट करने में असफल रहते हैं और अवर्ण्य का वर्णन करने के दोष से) उनके सिर पर बोझ ही पड़ता है।

(परमात्मा और सृष्टि का वर्णन शब्दों द्वारा सम्भव नहीं है। परन्तु जीव भी क्या करें। वे अवश हैं। अपने भावों को प्रकट करने के लिये उन्हें शब्दों का ही तो एक सुगम आश्रय है। इसलिये)

---

१. नाम। २. स्थान। ३. अगम्य ; अज्ञेय। ४. लोक ; भुवन।

*वैसे, परमात्मा के अपने नाम भी गणनातीत हैं। वह सर्वव्यापक है। अतः उसके निवास स्थान भी असंख्य हैं।

अखरी[१] नामु अखरी सालाह[२] ॥
अखरी गिआनु गीत गुण गाह ॥
अखरी लिखणु बोलणु बाणि ॥
अखरा सिरि संजोगु विखाणि[३] ॥
जिनि एहि लिखे तिसु सिरि नाहि ॥
जिव फुरमाए तिव तिव पाहि ॥
जेता कीता तेता नाउ ॥

परमात्मा का नाम अक्षरों द्वारा लिया जाता है, और उसकी स्तुति भी अक्षरों द्वारा ही की जाती है ।

अक्षरों द्वारा ही हरि के गुणों का गायन, चिन्तन, मनन एवं ग्रहण किया जाता है। इस तरह ज्ञान भी अक्षरों के माध्यम से ही प्राप्त किया जाता है।

(किसी) भाषा को लिखना और बोलना वर्णों (तथा शब्दों की सहायता) से ही सम्भव है। अतः दैवयोग का वर्णन भी अक्षरों द्वारा ही किया जाता है।●

(परन्तु) जिस प्रभु ने जीवों के मस्तक पर ये (भाग्य के अक्षर) लिखे हैं वह स्वयं इन से स्वतन्त्र—अलेख है। (प्रमात्मा किसी प्रकार के संयोग-वियोग के अधीन नहीं और न ही उसे किसी के सम्मुख उत्तरदायी होना पड़ता है।)

प्रभु-परमात्मा जैसी-जैसी आज्ञा देता है जीव वैसा ही पाते हैं। (उन्हें हरि के आदेशानुसार ही अपने-अपने भाग्यों में लिखे फल भोगने पड़ते हैं।)

हरि ने जितना (भी यह जगत्) उत्पन्न किया है वह सारे का सारा (ही उसका परिचय देने के कारण) उसका नाम है।

---

१. अक्षरों द्वारा। २. स्तुति। ३. व्याख्यान ; वर्णन।

●भाग्य भी अति सूक्ष्म दैवी अक्षरों से लिखा हुआ है।

विणु नावै[1] नाही को थाउ[2] ॥
कुदरति कवण कहा वीचारु ॥
वारिआ न जावा एक वार ॥
जो तुधु भावै साई भली कार ॥
तू सदा सलामति निरंकार ॥ १९ ॥
भरीऐ हथु पैरु तनु देह ॥
पाणी धोतै उतरसु खेह[3] ॥

(कर्त्तार स्वामी सर्वत्र व्याप्त है। अतः) कोई भी स्थान उसके प्रकाश से रहित नहीं है।

(हे प्रभु ! तू कितना विचित्र एवं विशाल हैं !) मेरी क्या विसात जो आपका या आपकी सृष्टि का ठीक-ठीक वर्णन कर सकूं ? अपितु, क्यों न एक ही बार आप पर निछावर हो जाऊं ?

(प्रकृति प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है। परन्तु) हे निराकार हरि ! आप सदैव एकरस, अविकृत रहते हैं। जो आपको अच्छी लगे वही क्रिया भली है। (हमें कार्य वही करने चाहियें जिनसे परम-पिता परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त हो सके) ॥ १९ ॥

[पिछले तीन चरणों में प्रमुखतः परमात्मा और सृष्टि को वर्णनातीत बताया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'जब प्रकृति का भी ठीक-ठीक विचार सम्भव नहीं तो हरि का गुणानुवाद भी व्यर्थ ही है।' तनिक विचार करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि गणना में पड़ना केवल 'बाल की खाल' उतारना है, जबकि हरिनाम-ध्यान द्वारा जीव की आत्मिक उन्नति होती है। श्री गुरू जी कहते हैं] :

यदि हाथ, पांव अथवा शरीर का कोई अङ्ग मिट्टी आदि से भर जाये तो पानी द्वारा धोने से वह मल उतर जाता है।

---

१. नाम या प्रकाश के। २. स्थान। ३. मिट्टी ; धूल।

सूत[1] पलीती[2] कपड़ु होइ ॥
दे साबूणु लईऐ ओहु धोइ ॥
भरीऐ मति पापा कै संगि ॥
ओहु धोपै नावै कै रंगि ॥
पुंनी पापी आखणु[3] नाहि ॥
करि करि करणा[4] लिखि लै जाहु ॥
आपे बीजि आपे ही खाहु ॥

(और) यदि मूत्र-मल से कोई वस्त्र अपवित्र हो जाये तो वह साबुन लगाकर धो लिया जाता है।

(इसी तरह यदि मनुष्य की) बुद्धि पाप-आचरणों की संगति से भ्रष्ट हो जाये तो वह भी परमात्मा के निर्मल नाम-अमृत के प्रेम में धोई जा सकती है।*

पुण्यी या पापी कहने के लिए, केवल शब्द-मात्र ही नहीं हैं। (क्योंकि किये हुए कर्मों के फल अवश्य होते हैं।)

हे नानक! तुम अच्छे-बुरे कर्म कर-कर के (संस्कारों के रूप में) उनकी छाप अपने साथ ले जाते हो।

(और) शुभ-अशुभ कर्म-बीज बो कर स्वयं ही उनके फल खाते हो। (एक जीव के कर्मों का फल किसी अन्य को नहीं मिलता; वरन् 'जो करता है वही भरता है।')

---

१. मूत्र। २. पलीद; अपवित्र। ३. कथन; शब्द। ४. काम।

*जल से शरीर धोया जा सकता है, अन्तरात्मा नहीं, क्योंकि वह अति सूक्ष्म है। उस तक जल की पहुंच या प्रभाव नहीं है। फिर, धोने के लिए उपकरण भी मलिन वस्तु तथा मल के अनुकूल ही होना चाहिये। अतः अन्तःकरण को हरि-भजन में लीन कर देने से ही निर्मल किया जा सकता है किसी अन्य साधन से नहीं।

नानक हुकमी आवहु जाहु ॥२०॥
तीरथु तपु दइआ दतु[1] दानु ॥
जे को पावै तिल का मानु ॥
सुणिआ मंनिआ मनि कीता भाउ[2] ॥
अंतरगति[3] तीरथि मलि[4] नाउ ॥

(तुम कर्म-फल भोगने के लिए) ईश्वरीय आदेश द्वारा (जन्म ले कर संसार के रंगमंच पर) आते हो और (नियोग समाप्त होने पर देह त्याग कर यहां से) चले जाते हो ॥२०॥●

[तीर्थस्नान से मानसिक स्वच्छता सम्भव नहीं, क्योंकि जल तो तन को धो सकता है और तन धोने से मन साफ नहीं होता। और फिर, कर्म-काण्ड के अनुष्ठान से तो (सम्भवतः) मन में मान-प्रतिष्ठा एवं अहं की भावना उग्र हो कर जीव को सत्-आशय से दूर ले जाती है। श्री गुरू जी कहते हैं] :

तीर्थाटन, तपश्चर्या और किये हुए दान आदि पुण्यकर्मों के फल-स्वरूप यदि कोई अन्य लोगों से आदर-मान पा भी ले तो (उसका कोई लाभ नहीं। आध्यात्मिक कसौटी पर उसका मूल्य केवल) तिल-मात्र या तुच्छ ही है।

(इसलिए हे साधक !) तुम हरि-नाम सुनने और अन्तःकरण में उसके प्रति प्रेमधारण करने (की विधि) से (स्थूल की अपेक्षा) आन्तरिक अर्थात् हरि-नाम-अभ्यास के आत्म-तीर्थ पर मल-मल कर स्नान करो। ('सुरति' को 'शब्द' में लवलीन करके अहं-मल को धो डालो और अति विनम्र भाव से विनय करो कि) :—

---

१. दत्त ; दिया हुआ। २. प्रेमभाव। ३. अन्तस्थ। ४. मल कर।

●आवागमन का कारण जीव द्वारा अहंवश हो कर, अपनी अलग सत्ता मानते हुए किये गये कर्म ही हैं।

सभि गुण तेरे मै नाही कोइ ॥
विणु गुण कीते भगति न होइ ॥
सुअसति[1] आथि[2] बाणी बरमाउ ॥
सति सुहाणु[3] सदा मनि चाउ[4] ॥
कवणु सु वेला[5] वखतु कवणु कवण थिति कवणु वारु ॥
कवणि सि रुती माहु कवणु जितु होआ आकारु ॥

हे प्रभु ! सब गुण आप ही के हैं। मुझ में (अपना) कोई भी गुण नहीं; (आप सर्वगुण सम्पन्न हैं और मैं निर्गुणी जीव हूं।)

किन्तु, हे पिता ! आपके गुणों का गायन और उन्हें धारण किये बिना आपकी भक्ति सम्भव नहीं।*

हे मंगल-रूप हरि ! आपके आदेश द्वारा ही माया फैली; आप से ही वाणी (शब्द या ध्वनि) प्रकट हुई और उससे ब्रह्माण्ड बने।

आप सदैव सत्य (स्थिर) एवं शोभायमान हैं; आपके मन में शाश्वत आनन्द भरा रहता है। (आप सत्य, सुन्दर और आनन्दमय हैं।)

यह किसे मालूम है कि जब जगत साकार हुआ वह कौन-सी बेला थी ? क्या समय था ? उस समय क्या ऋतु थी और क्या माह था ?

---

१. स्वस्ति। २. माया। ३. सुन्दर। ४. उत्साह; आनन्द। ५. समय।

*यह एक बड़ी साधारण बात है कि किसी वस्तु या मनुष्य के गुण (विशेषतायें) जान लेने पर ही मन उसकी ओर आकर्षित होता है। इसी प्रकार हरि-प्रीति अथवा भक्ति प्राप्त करने के लिये हरि के गुणों का अनुवाद, ज्ञान एवं अनुशीलन आवश्यक है। इसका सर्वोत्तम साधन हरि का 'नाम' है जिसके सतत अभ्यास द्वारा मन-दर्पण पर जमी हुई माया की धुन्ध हट जाती है, अहं-भ्रम की दीवार टूट जाती है और जीव अपने ज्योति-स्वरूप मूल हरि को साक्षात्कार कर लेता है।

वेल न पाईआ पंडती जे होवै लेखु पुराणु ॥
वखतु न पाइओ कादीआ[१] जि लिखनि लेखु कुराणु ॥
थिति वारु ना जोगी जाणै रुति[२] माहु ना कोई ॥
जा करता सिरठी[३] कउ साजे आपे जाणै सोई ॥
किव करि आखा किव सालाही किउ वरनी किव जाणा ॥
नानक आखणि सभु को आखै इकदू इकु[४] सिआणा[५] ॥

(सृष्टि की उत्पत्ति का) समय पण्डितों को मालूम न हुआ, नहीं तो इस विषय पर कोई पौराणिक लेख होता। काज़ियों को भी उस वक़्त का पता न लग सका, अन्यथा वे कुरान का ऐसा कोई लेख लिख देते।

(जगत्-रचना की) तिथि या दिन कोई योगी भी नहीं जानता है और न ही किसी को तत्कालीन ऋतु एवं मास का ज्ञान है। वस्तुतः जो कर्त्ता-प्रभु सृष्टि को बनाता है वह आप ही यह सब सविस्तार जानता है।*

फिर उसके विषय में मैं क्या कहूं? उसकी स्तुति कैसे करूं? कैसे उसका वर्णन करूं और उसे कैसे समझूं?

हे नानक! कहने को तो हर कोई एक से एक अधिक विद्वान् हरि एवं सृष्टि के विषय में कथन करता है (परन्तु परमात्मा अनन्त, अचिन्त्य तथा अवर्णनीय है।)

---

१. काज़ियों ने। २. ऋतु। ३. सृष्टि। ४. एक से एक। ५. योग्य।

*जगत्-रचना के विषय में किसी प्रकार की अटकल लगाना व्यर्थ है। हम देश, काल की सीमा में बन्धे हुए सोचते हैं परन्तु परमात्मा, सब का रचयिता होने के कारण, इन से स्वतन्त्र है और, जब समय सत्ता में आया, सृष्टि की उत्पत्ति हो चुकी थी। अतः वह समय कालातीत है। फिर, उत्पत्ति से पहले केवल परमात्मा ही उपस्थित था, इसलिए उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी सृष्टि-रचना के विषय में कुछ नहीं जान सकता।

वडा साहिबु वडी नाई१ कीता जाका होवै ॥
नानक जे को आपौ जाणै अगै गइआ न सोहै ॥२१॥
पाताला पाताल लख आगासा अगास ॥
ओड़क२ ओड़क भालि३ थके वेद कहनि इक वात ॥
सहस अठारह कहनि कतेबा४ असुलू५ इकु धातु ॥
लेखा होइ त लिखीऐ लेखै होइ विणासु ॥

(सचमुच ही,) वह स्वामी जिसका किया हुआ सब कुछ होता है—सबसे बड़ा है और उसका नाम अथवा महिमा भी महान् है।

हे नानक! यदि कोई (प्रभु की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार न करके किसी कार्य को) अपने द्वारा सिद्ध हुआ मानता है तो वह परलोक में शोभा नहीं देता ॥ २१ ॥

हरि द्वारा रचित लाखों ही पाताल और आकाश हैं।

वेद भी यही बात कहते हैं (कि परमात्मा अनन्त है)। उसका अन्त खोजते हुए सभी थक गये। (जो कोई भी हरि का अन्त पाने का प्रयत्न करता है, वह अन्त में इसी परिणाम पर पहुंचता है कि हरि का अन्त अलभ्य है और उसे खोजने के सभी प्रयास व्यर्थ हैं।)

अन्य धर्म ग्रन्थ भी अपने-अपने ढंग से ऐसा ही कहते हैं। अठारह हज़ार (आलम या संसार) कहने का भी यही भाव है। इस गणनातीत सृष्टि का मूल एक परमात्मा ही है। (जो स्वयं अकारण, अनादि और सब का आदिकारण है)।

यदि उसका हिसाब हो सके तो लिखा भी जाये किन्तु (यह बात अनुभव-सिद्ध है कि) जो वस्तु गिनती में आती है उसका विनाश हो जाता है।(असीम हरि का लेखा करते-करते तो गिनती ही समाप्त हो जाती है।)

---

१. बड़ाई। २. अन्त। ३. खोज कर। ४. पुस्तकें। ५. सत्यता।

नानक वडा आखीऐ आपे जाणै आपु ॥२२॥
सालाही सालाहि एती सुरति[1] न पाईआ ॥
नदीआ अतै वाह[2] पवहि समुंद न जाणीअहि ॥
समुंद साह सुलतान गिरहा सेती[3] मालु धनु ॥
कीड़ी तुलि[4] न होवनी जे तिसु मनहु न वीसरहि ॥२३॥

हे नानक ! प्रभु-परमात्मा को सदैव महान् कहा जाना चाहिए। जितना बड़ा वह स्वयं है (और जितनी उसकी रचना है—इसे) केवल वह आप ही जानता है ॥ २२ ॥

(इस लिए हे साधक ! तू) उस सराहनीय प्रभु की स्तुति कर। क्या तुझे इतनी सुध नहीं कि नदियां और नाले समुद्र में जा गिरते हैं (और उसमें विलीन हो जाते हैं), परन्तु वे जान नहीं सकते (कि समुद्र कितना विशाल है। इसी तरह भक्त लोग स्तुति करने-करते लीन होकर हरि का अवगाहन तो कर सकते हैं परन्तु उसका अन्त नहीं पा सकते*। अत: लेखा छोड़कर हरि का निरंतर ध्यान, स्मरण ही अपेक्षित है, क्योंकि)

ऐसे राजे भी जो पर्वतों जितने धन-माल और समुद्रों के भी स्वामी हैं एक उस चींटी की बराबरी नहीं कर सकते जिसके मन से परमात्मा कभी नहीं भूलता।(इस प्रकार छोटे से छोटा जीव भी जो हरि को सदैव याद रखता है—'नाम'-विहीन महाराजाओं से भी बढ़ कर है) ॥२३॥

(परमात्मा अनन्त है और वाणी शब्दों की वर्णन-शक्ति पर आश्रित

---

१. समझ। २. नाले। ३. पर्वतों जितना। ४. तुल्य ; बराबर।

*जान वह सकता है जिसकी अपनी सत्ता जानी जाने वाली वस्तु से भिन्न हो। परन्तु जब साधक साध्य में विलीन हो जाता है तो उसकी अपनी अलग सत्ता रहती ही नहीं। जब ज्ञाता स्वयं ही ज्ञेय का रूप हो जाए तब कौन जाने और किसे जाने।

अंतु[१] न सिफती कहणि न अंतु ॥
अंतु न करणै देणि न अंतु ॥
अंतु न वेखणि सुणणि न अंतु ॥
अंतु न जापै किआ मनि मंतु[२] ॥
अंतु न जापै कीता आकारु ॥
अंतु न जापै पारावारु ॥
अंत कारणि केते बिललाहि[३] ॥
ताके[४] अंत न पाए जाहि ॥

होने के कारण अपूर्ण एवं सीमित है। इसलिए) :

न तो स्तुतियां करने से और न ही अधिक कथन करने से हरि का रहस्य पाया जा सकता है। दान देने तथा अन्य शुभकर्म करने से भी उसका अन्त नहीं मिलता।

अनेक स्थानों का भ्रमण करके बहुत-कुछ देखने या अधिक पढ़ने सुनने से भी हरि का भेद नहीं मिलता।

यह भेद भी मालूम नहीं होता कि प्रभु का क्या इरादा है। (उसने यह सृष्टि किस प्रयोजन से बनाई है?)

परमात्मा ने जो यह सूक्ष्म-स्थूल आकार वाला प्रपंच बना रखा है, उसका भी कोई अन्त भासित नहीं होता।

अस्तु! सृष्टि और उसके रचयिता परमात्मा का कोई ओर-छोर (सिरा या किनारा) दिखाई नहीं देता।

रहस्य जानने के (लिए कितने ही लोग असमर्थ होने के) कारण बिलबिलाते हैं। किन्तु उस (हरि) के भेद पाये जा ही नहीं सकते।

---

१. रहस्य; सीमा। २. मन्त्र; गुप्त-सलाह। ३. बिलखते, प्रलाप करते हैं। ४. उस परमात्मा के।

एहु अंतु न जाणै कोइ ॥
बहुता कहीऐ बहुता होइ ॥
वडा[1] साहिबु ऊचा थाउ ॥
ऊचे उपरि ऊचा नाउ[2] ॥
ए वडु[3] ऊचा होवै कोइ ॥
तिसु[4] ऊचे कउ जाणै सोइ[5] ॥

अतएव यह परमगूढ़ रहस्य कोई भी नहीं जानता। हरि के विषय में कितना ही अधिक क्यों न कहा जाये, वह कहे हुए से और भी अधिक प्रतीत होने लगता है।*

प्रभु-परमात्मा महान् है। उसका स्थान, (पद या प्रतिष्ठा) श्रेष्ठ है और ऊंचे से भी ऊंचा उस का 'नाम' है।

यदि कोई इतना अधिक उन्नत हुआ जीव हो तो वह ही उस परम-उच्च हरि (और उसके नाम) को जान सकता है।‡

(किन्तु इतनी उन्नत सत्ता परम-पुरुष परमात्मा से भिन्न सम्भव नहीं। यह आत्म-विकास की चर्म-सीमा है, जहां पहुंच कर हरेक आत्मा परमात्मा से एकाकार होकर स्वयं भी परमात्मा बन जाती है।)

---

१. बड़ा। २. नाम। ३. इतना अधिक। ४. उस। ५. वही।

*हम हरि की विशालता का जितना जी चाहे अनुमान लगा लें। फिर भी मन में "नेति, नेति" की भावना बनी ही रहती है क्योंकि परमात्मा सानुपातिक स्तर (Plane of Relativity) से परे है।

‡दैनिक जीवन का भी यह एक साधारण-सा अनुभव है कि यदि किसी ऊंचे स्थान (छत्त, छज्जे आदि) पर पड़ी हुई वस्तु को देखना हो तो उतना ही ऊंचा उठना पड़ता है और किसी ऊंची बात को समझने के लिए भी बुद्धि का उतना उन्नत होना आवश्यक है। अत: परमात्मा को स्वयं परमात्मा ही जान सकता है कोई अन्य नहीं।

जे वडु आपि जाणै आपि आपि ॥
नानक नदरी करमी .दाति ॥२४॥
बहुता करमु[1] लिखिआ ना जाइ ॥
वडा दाता तिलु न तमाइ[2] ॥
केते मंगहि जोध अपार ॥
केतिआ गणत[3] नही वीचारु ॥
केते खपि तुटहि[4] वेकार ॥

(अतएव) हे नानक ! जिसकी दयादृष्टि से जीवों को हरेक वस्तु प्राप्त होती है, वह प्रभु आप ही जानता है कि वह कितना बड़ा है।।२४।।

(अपनी वड़ाई को हरि स्वयं ही जानता है, कोई अन्य नहीं ।)

परम-पुरुष परमात्मा की दया (अनुकम्पा अथवा कृपा) वहुत अधिक है ; (इतनी अधिक कि) उसे लिखा नहीं जा सकता ।

परमात्मा सवसे बड़ा दानी है। उसे तिल भर अर्थात् कण-मात्र भी लिप्सा (या लालच) नहीं। (देना उसका स्वभाव है। अतः दान दे कर हरि उसके एवज़ में किसी प्रकार के प्रतिदान की इच्छा नहीं रखता ।)

कितने ही, अपार योधे प्रभु से याचना करते हैं। (अति बलवान् लोग भी अपने बल द्वारा कुछ प्राप्त नहीं कर पाते, अपितु वे भी अन्य याचकों की भांति हरि के सम्मुख झोली फैलाये रहते हैं। उनके बल का कारण भी प्रभु की कृपा ही है।)

(इनके अतिरिक्त हरि से याचना करने वाले) कितने ही ऐसे अन्य जीव हैं जिनकी संख्या का विचार भी नहीं हो सकता ।

असंख्य ही (अविवेकी) जीव विषय-विकारों में खचित हुए (भटकते-भटकते, बेकार ही) क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं। (वे प्रभु से विमुख होकर विषय-भोगों को पाने और भोगने में ही रचे-पचे रहते हैं।)

---

१. दया। २. लोभ ; इच्छा। ३. गणना ; संख्या। ४. टूट जाते हैं।

केते लै लै मुकरु[1] पाहि[2] ॥
केते मूरख खाही खाहि ॥
केतिआ दूख भूख सदमार[3] ॥
एहि भि दाति तेरी दातार ॥
बंदि खलासी[4] भाणै होइ ॥

कितने ही जीव दातार-प्रभु से अनेक पदार्थ ले-ले कर मुकर जाते है। (वे परमात्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट न करके प्राप्त हुए सभी पदार्थों को अपने द्वारा ही कमाये हुए समझ लेते हैं।)

कितने ही ऐसे जड़-बुद्धि (नासमझ) लोग हैं जो ईश्वर-प्रदत्त असंख्य पदार्थ खाते ही जाते हैं। (उन्हें दान से प्यार है और उसी का उपभोग करने में लगे रहते हैं। वे देने वाले, प्रभु-कर्त्तार का धन्यवाद तो क्या उसका कभी ध्यान भी नहीं करते।)

कितने ही जीवों को सदैव दुःख और भूख रूपी दण्ड मिलता रहता है। (वे सदा अभाव-ग्रस्त रहकर अनेक कष्ट झेलते रहते हैं।)

[ऐसे अधिकांश लोग परमात्मा को एक निरंकुश,अत्याचारी शासक समझ कर उससे घृणा करने लगते हैं। परन्तु यदि सोचा जाये तो दुःख एक ऐसी औषधि है जो अत्यधिक कड़वी होने पर भी लाभकारी है। फिर, मनुष्य जीवन में तो भाव-अभाव, दुःख-सुख आदि का अपना-अपना विशेष स्थान है। वास्तव में वे एक ही पन्ने के दो पृष्ठ हैं। अतएव उन्हें सम जान कर हरि से कृतज्ञता पूर्वक विनय करनी चाहिये कि]

हे दातार-प्रभु ! ये भी आप ही के दिये हुए दान हैं। (मेरे अहो-भाग्य कि मैं इनका भी पात्र बन सका हूं।)

हे पिता ! जीवों को भव-बन्धन (आवागमन) और उससे मुक्ति भी आप की अपार कृपा (एवं स्वीकृति) द्वारा ही प्राप्त होती है।

---

१. मुकर जाते हैं। २. निरन्तर-दण्ड। ३. कैद ; बन्धन। ४. मुक्ति।

होरु[1] आखि न सकै कोइ ॥
जे को खाइकु[2] आखणि पाइ ॥
ओहु जाणै जेतीआ मुहि[3] खाइ ॥
आपे जाणै आपे देइ ॥
आखहि सि भि[4] केई केइ[5] ॥

(इस विषय में) अन्य कोई, कुछ भी नहीं कह सकता (ईश्वर जीवों को वन्धन तथा मुक्ति अपने परम-न्याय के अनुसार देता है। ऐसा करने के लिये उसे किसी दूसरे से कोई सलाह नहीं लेनी पड़ती।* अतः हरि के दरवार में किसी की एक नहीं चलती ; वहां कोई सिफारिश कारगर नहीं हो सकती। अतएव ऐसा कोई भी प्रयत्न करना अपने-आप को ही ठगना है।)

यदि (इस सम्वन्ध में) कोई कूढ़मग्ज़ (ईश्वरीय आदेश एवं इच्छा के विरुद्ध) कुछ कहने का साहस करे (तो इस अनधिकार चेष्टा के कारण) उसे जितनी (बुरी तरह से) मुंह की खानी पड़ती है; वह आप ही जानता है। (उसे अकथनीय दण्ड भुगतना पड़ता है। इसलिये, ईश्वरीय आज्ञा को परम मान कर अपने मन-बुद्धि को उससे एकसुर कर देना ही परम-कर्तव्य है।)

प्रभु आप ही सब कुछ जानता है और अपने-आप जीवों को आवश्यक पदार्थ देता है। (हरि सर्वसाक्षी होने के कारण विना कहे ही सब जान लेता है और स्वतः सब की आवश्यकतायें पूर्ण कर देता है।)

(परन्तु) यह (पूर्वोक्त बात) भी कोई-कोई जीव ही कहते हैं। (संसार में ऐसे कृतज्ञ और आज्ञाकारी जीव बहुत कम हैं जो वास्तव में ही हरि को सर्वज्ञ तथा परम-न्यायशील मान कर उसकी दी हुई हरेक वस्तु एवं स्थिति का स्वागत करते हुए उसका धन्यवाद तथा गुण-गान करते हैं।)

१. अन्य। २. गावदी; मूर्ख। ३. मुंह पर। ४. वे भी। ५. कोई विरले ही।

*बीओ पूछि न मसलति धरै ॥
जो किछु करै सु आपहि करै ॥ (आदि-ग्रन्थ ; पृ० ८६३)

जिसनो बखसे सिफति सालाह[1] ॥
नानक पातिसाही पातिसाहु ॥२५॥
अमुल गुण अमुल वापार[2] ॥
अमुल वापारीए अमुल भंडार ॥
अमुल आवहि अमुल लै जाहि ॥
अमुल भाइ[3] अमुला समाहि[4] ॥

(श्री गुरु जी अब परमात्मा के सर्वश्रेष्ठ दान (भक्ति) का वर्णन करते हुए अपने-आप को सम्बोधित करके कहते हैं) :

हे नानक ! जिस को दाता-प्रभु अपना गुणगान एवं यश-कीर्तन प्रदान करता है वह जीव राजाओं का भी राजा है। (उसके पास कभी समाप्त न होने वाले सर्वथा-पूर्ण 'हरि-नाम' के सर्वोच्च भण्डार है, अतः ठीक अर्थों में उसे ही महाराजाधिराज कहा जाना चाहिए ॥२५॥

[परमात्मा का हरेक गुण एवं चलन विलक्षण, अपूर्व तथा बेजोड़ है। उनमें से किसी एक का भी मूल्याङ्कन नहीं हो सकता।]

हरि के गुण अमूल्य हैं ; उनका चलन, अभ्यास अथवा अनुष्ठान भी —जो कि वास्तविक या सच्चा व्यापार है, अमूल्य है।

दैवी-गुणों का व्यवहार करने वाले (भक्त) अमोलक हैं और उनके (पास जो हरि-नाम के अखण्ड) भण्डार (हैं वे) भी अनमोल हैं।

अनमोल हैं वे जीव जो (हरि के द्वार पर, सत्सङ्ग अथवा संसार में यह सौदा लेने के लिए) आते हैं और जो (भाग्यवान् इन दैवी-गुणों का संग्रह करके) ले जाते हैं वे भी अमोल हैं।

जो लोग प्रभु-परमात्मा के प्रेम में संलग्न रहते हैं वे अमोल हैं और जो हरि-नाम की प्रेम-भक्ति द्वारा) उसमें विलीन (होकर उसका ही रूप) हो जाते हैं वे भी अनमोल हैं।

१. गुणों की स्तुति। २. व्यापार। ३. प्रेम में, द्वारा। ४. समा जाते हैं।

अमुलु धरमु[1] अमुलु दीबाणु ।।
अमुलु तुलु[2] अमुलु परवाणु[6] ।।
अमुलु बखसीस अमुलु नीसाणु[3] ।।
अमुलु करमु[4] अमुलु फुरमाणु[5] ।।
अमुलो अमुलु आखिआ न जाइ ।।
आखि आखि रहे लिव लाइ ।।

परमात्मा का राज्य-नियम (अथवा न्याय, जिसमें बंधी हुई सारी सृष्टि चल रही है) अनमोल है। उसका दरबार भी अमोलक है (जहाँ प्रतिपल उस अटल, अचल नियम का प्रयोग तथा चलन होता है)

वह तराजू और बाट भी अमोलक हैं (जिनके द्वारा हरि जीवों के किए हुए शुभ-अशुभ कर्मों की जांच-परख करता है।*)

परमात्मा द्वारा दिया जाने वाला (नाम, क्षमा आदि का) पारितोषिक (इनाम) अमूल्य है और (उसकी दृष्टि में स्वीकृत हुए जीवों को ईश्वरीय दरबार से प्राप्त होने वाला) चिन्ह (पदक—Medal) भी अनमोल है।

हरि का जीवों पर किया जाने वाला अनुग्रह (दया-प्रदर्शन) अमोल है (और परम-न्यायोचित होने के कारण) उसका आदेश भी अमूल्य है।

प्रभु-परमात्मा स्वयं अमूल्य ही अमूल्य (अर्थात् सब प्रकार की नाप-जोख से परे) है। उसका कथन नहीं किया जा सकता।

कितने ही (ऋषि, मुनि आदि) हरि के विषय में कह-कह कर और उसका ध्यान लगा-लगा कर भी रह गए (परन्तु उनमें से कोई भी हरि तथा उसकी विशेषताओं का मूल्याङ्कन करने में सफल न हो सका।)

---

१. कानून ; नियम। २. तुला। ३. निशान। ४. दया-प्रदर्शन। ५. फरमान ; आदेश। ६. परिमाण ; बाट ; तौल।

*'तराजू' और 'परिमाण' शब्द तोलने और मापदण्ड का अर्थ देते हैं। वास्तव में ये दोनों शब्द 'कसौटी' के प्रतीक हैं। 'परमात्मा जीवों के कर्मों को जिस आदर्श प्रमाप द्वारा अथवा जिस कसौटी पर परखता है वह अनमोल है।'

आखहि[1] वेद पाठ पुराण ॥
आखहि पड़े करहि वखिआण[2] ॥
आखहि बरमे आखहि इंद ॥
आखहि गोपी तै गोविंद ॥
आखहि ईसर[3] आखहि सिध ॥
आखहि केते कीते बुध[4] ॥

(कौन कौन हरि का कथन करते हैं ? सुनो) :—

(कितने ही) वेदों तथा पुराणों का पाठ (पठन या उच्चारण) करने वाले (मनुष्य हरि की अनमोलता का) कथन करते हैं।

अन्य पढ़े-लिखे (विद्वान-लोग) भी, जो (अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करके हरि के विषय में) व्याख्यान (अथवा उपदेश) देते हैं, हरि की अनमोल सत्ता को ही प्रकट करते हैं।

*अनेकों ब्रह्मा और इन्द्र (सरीखे देवताओं के अधिपति) भी हरि का कथन करते हैं। कितनी ही गोपियां और उनके प्रिय गोविन्द भी (अपने कर्त्ता, परमात्मा की वड़ाई का) वर्णन करते हैं।

कितने ही शिव, तथा (योग साधना द्वारा सिद्धियां प्राप्त करने वाले) सिद्धयोगी भी हरि का ही कथन करते हैं।

प्रभु द्वारा उत्पन्न किए हुए कितने ही बुद्ध उसका वर्णन करते हैं।

१. कहते हैं। २. व्याख्यान; उपदेश। ३. शिव। ४. महात्मा बुद्ध; ज्ञानी।

*इस पद में 'बरमे', 'इंद', 'गोपी' आदि सारे शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं। वैसे तो 'ब्रह्मा', 'इन्द्र' आदि ईश्वरीय शक्ति के विभिन्न पहलुओं को चेतन जान कर उनके रखे हुए (काल्पनिक) नाम हैं परन्तु यदि उन्हें जीवधारी मान भी लिया जाये तो ब्रह्माण्डों की अनेकता के कारण उनकी गिनती एक-एक नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त वे सबके-सब त्रिगुणात्मक प्रकृति के प्रभाव में होने के कारण आवागमन के चक्र से भी स्वतन्त्र नहीं हैं। अतः उनके अवतार व जन्म अनेक ही हैं।

आखहि दानव[१] आखहि देव ॥
आखहि सुरिनर[२] मुनिजन सेव[३] ॥
केते आखहि आखणि पाहि ॥
केते कहि कहि उठि उठि जाहि ॥
एते कीते होरि करेहि ॥
ता आखि न सकहि केई केइ[४] ॥
जेवडु भावै तेवडु होइ ॥
नानक जाणै साचा सोइ ॥

राक्षस और देवता भी हरि का कथन करते हैं ।

दैवीगुणों (सुर अथवा सुशील स्वभाव) वाले मनुष्य, (आत्मा-परमात्मा, सत्-असत् आदि सूक्ष्म विषयों का मनन-चिंतन करने वाले) त्यागी-महात्मा और भक्त-लोग भी हरि (की महिमा) का वर्णन करते हैं।

(किस-किस का नाम लेकर गिनायें ? क्योंकि, न जाने) कितने ही हरि (और उसकी अनमोल सत्ता व बड़ाई) का कथन करते हैं और कितने ही अन्य जीव उसे कह सकने के प्रयत्न करते हैं ।

कितने ही (जीव अपनी-अपनी बुद्धि अर्थात् समझ-बूझ के अनुसार हरि का) कथन करके (इस संसार से) उठ जाते हैं ।

(परन्तु असल बात तो यह है कि हरि द्वारा) उत्पन्न किये हुए जितने जीव हैं यदि वह इतने ही और पैदा कर डाले तो भी (उनमें से) कोई विरला भी उसका कथन नहीं कर सकेगा । (क्योंकि)

परमात्मा को जितना अच्छा लगता है वह उतना ही वड़ा हो जाता है। (हरि की वड़ाई उसकी अपनी भावना के अनुकूल है । उसकी भावना क्या है ? यह कोई नहीं जानता । अतएव)

हे नानक ! वह सदा सत्य परब्रह्म अपनी वड़ाई आप ही जानता है।

---

१. राक्षस ; असुर । २. देवता समान मनुष्य । ३. सेवक ; भक्त । ४. कोई-कोई ; विरला भी ।

जे को आखै बोलु विगाड़ु[1] ॥
ता लिखीऐ सिरि गावारा गावारु[2] ॥२६॥
सो दरु केहा सो घरु केहा जितु बहि सरब समाले[3] ॥
वाजे नाद अनेक असंखा केते वावणहारे ॥

यदि कोई वचन बिगाड़ने वाला (अपवादी) कहे (कि मैं जानता हूं; हरि इतना बड़ा है) तो उसे मूर्ख-शिरोमणि लिखा जाना चाहिए* ॥२६॥

(हरि का वर्णन तो कोई क्या करेगा पहले उसके घर-दरबार का दर्शन ही बड़ा दुर्लभ एवं आश्चर्यजनक है। उसी का एक अद्‌भुत, चित्ताकर्षक शब्दचित्र प्रस्तुत करते हुए श्री गुरू महाराज कहते हैं) :

हे प्रभु ! आपका वह निज-घर कैसा (विस्मय) है जहां बैठ कर आप सब सृष्टि की सम्भाल करते हैं और (उस घर में प्रवेश प्राप्त करने के लिये जो) द्वार (है वह) भी कैसा (अनूप) है !

हे पिता ! आपके इस अपूर्व द्वार पर अनेक प्रकार के वाद्य (बाजे) हैं। कितने ही उन को बजानेवाले हैं और उन वाद्य-यन्त्रों के बजने से वहां पर असंख्य प्रकार की मधुर मूल-ध्वनियां (उत्पन्न होकर एक मनमोहक गुञ्जन करती रहती हैं।

१. प्रतिवादी; उल्ट बोलनेवाला। २. महामूर्ख। ३. वश में रखता है।

*ऐसा अधिकार जताना कि 'मैं हरि की महानता का वर्णन कर सकता हूं' महामूर्खता नहीं तो और क्या है ? हरि-ध्यान में लीन होते ही साधक विस्मित एवं आत्मविस्मृत हो जाता है। और 'दर्शन हो जाने पर तो बुद्धि भी काम नहीं करती, फिर साधक उसका वर्णन करने में कैसे सफल हो सकता है ? हां, गूंगे की तरह वह भी कुछ अङ्ग-संकेतों द्वारा अपने आनन्द को प्रकट करने की चेष्टा चाहे करे। परन्तु संकेत पूरे तथा स्पष्ट अर्थों का वाहन कैसे कर सकते हैं जबकि शब्द भी सूक्ष्म मनोभावों को प्रकट करने में असमर्थ हैं। अतः परब्रह्म परमात्मा और उसकी महा-महिमा अवर्णनीय है।

केते राग परी[१] सिउ कहीअनि केते गावणहारे[२] ॥
गावहि तुहनो पउणु पाणी बैसंतरु
गावै राजा धरमु[३] दुआरे[४] ॥
गावहि चितु गुपतु लिखि जाणहि
लिखि लिखि धरमु वीचारे ॥
गावहि ईसरु बरमा देवी सोहनि सदा सवारे ॥
गावहि इंद इदासणि बैठे देवतिआ दरि नाले[५] ॥

(उस परम-पवित्र वाद्य-संगीत के साथ-साथ वहां पर निरन्तर) कितने ही राग, रागनियों (अर्थात् अपने-अपने परिवार) सहित गाये जा रहे हैं (और उन राग-रागनियों को) गाने वाले भी असंख्य ही हैं।

हे प्रभु! पवन, पानी तथा अग्नि (आदि जिन्हें लोग देवता समझ कर पूजते हैं) आप का यश गाते हैं और (आपके आदेश में बन्धा हुआ) धर्मराज (ईश्वरीय नियम) भी आपके द्वार पर आपके गुण गाता है।

वे (तथाकथित) 'चित्र' और 'गुप्त' (नामक धर्मराज के दूत) भी जो (लोकमत के अनुसार जीवों के अच्छे और बुरे कर्मों के हिसाब) लिखना जानते हैं (और जिनके लिखे हुए विवरणों से जीवों के आचरणों को पढ़ कर) धर्मराज विचार करता है—आपका यशोगान करते हैं*।

शिवजी, ब्रह्मा (आदि देवता) और सभी देवियां भी—जो आप द्वारा सजाए, बनाए हुए शोभा देते हैं—सदा आपकी महिमा गाते रहते हैं।

अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे हुए (देवताओं के अनेक राजा) इन्द्र भी अनगिनत) देवताओं (या अपनी-अपनी देव-प्रजाओं के झुण्डों) समेत आप के द्वार पर उपस्थित हुए आपके गुणों का गायन करते हैं।

१. रागनियां। २. गायक। ३. धर्मराज। ४. द्वार पर। ५. साथ ही।

*हिन्दु-मतानुसार जब आत्मा शरीर छोड़ती है तो वह धर्मराज के दरबार में उपस्थित होती है; चित्रगुप्त उसके कर्मों का लेखा सुनाता है और धर्मराज निर्णय करता है।

गावहि सिध[1] समाधी अंदरि
गावनि साध[2] विचारे ॥
गावनि जती सती संतोखी
गावहि वीर करारे[3] ॥
गावनि पंडित पड़नि रखीसर[4]
जुगु जुगु वेदा नाले ॥
गावहि मोहणीआ मनु मोहनि
सुरगा मछु[5] पइआले ॥
गावनि रतन उपाए तेरे
अठसठि तीरथ नाले ॥

(अलौकिक विभूतियों एवं शक्तियों को प्राप्त करने वाले) सिद्ध अथवा योगी-लोग समाधियों में जुड़ कर और दूसरे साधु भी गहन विचारों में लीन होकर आपकी स्तुति करते हैं।

इन्द्रियों को वश में करके विरक्त रहने वाले) संयमी, (सत्य को धारण करने वाले) सत्याचारी अथवा सत्यव्रती, (यथालाभ सन्तोष करने वाले) सन्तोषी तथा दृढ़चित्त शूरवीर योद्धे भी आपका यश गाते हैं।

प्रत्येक युग (Age) में वेद-मन्त्रों के द्रष्टा, (ज्ञान-दाता) महाऋषि और साथ ही पण्डित-लोग भी जो वेदों का पठन-पाठन अर्थात् अध्ययन करते हैं—आपके गुण गाते हैं।

स्वर्ग, मृत्यु और पाताल (आदि तीनों लोकों) में जो मन को मोह लेती हैं ऐसी सुन्दरियां भी आपका ही यश गाती हैं।

हे प्रभु ! आपके द्वारा उत्पन्न किए हुए बहुमूल्य पदार्थ और साथ ही अड़सठ अर्थात् सभी महान् तीर्थ भी आपकी ही महिमा गाते हैं।

---

१. देवयोनि विशेष। २. साधु। ३. बलवान्। ४. ऋषीश्वर। ५. मत्स्य ; इह लोक।

गावहि जोध[1] महावल सूरा[2]
गावहि खाणी चारे ॥
गावहि खंड मंडल वरभंडा[3]
करि करि रखे धारे ॥
सेई[4] तुधु नो गावहि जो तुधु भावनि
रते[5] तेरे भगत रसाले[6] ॥
होरि केते गावनि से मै चिति न आवनि
नानकु किआ वीचारे ॥

अतिशय शक्तिशाली योद्धे तथा अन्य शूरवीर भी आपका गायन करते हैं। उत्पत्ति (की असंख्य श्रेणियों) के (आधार-भूत, अण्ड, जरायु, स्वेद, पृथ्वी आदि) चार उद्गम-स्रोत अर्थात् उनसे उत्पन्न होने वाले सभी जीव, पदार्थ और वनस्पति आदि) भी आपकी महिमा गाते हैं।

आपके द्वारा वना कर टिकाये हुए सारे ब्रह्माण्ड, उनके विभिन्न खण्ड (अर्थात् छोटे-छोटे भाग) तथा असंख्य सौर-मण्डल भी आपकी महिमा करते हैं।

हे प्रभु ! वास्तव में वही जीव आपके गुण गाते हैं जो आपको अच्छे लगते हैं। आपके वे रसिक भक्त (सदैव 'नाम' रूपी महारस में ही मग्न रहते) हैं।

(इनके अतिरिक्त) कितने ही अन्य जीव भी आपका यश गाते हैं, जो मेरे चित्त-ध्यान में नहीं आते। अतः यह (वेचारा) नानक उन सव का विचार क्या करे ? (कैसे करे ?)

(जो साधक इस तरह अमूल्य गुणों के सागर परब्रह्म का यश-गान करके उसमें लीन हो जाता है उसे प्रत्यक्ष हो जाता है कि सब प्रकार के देवता, खण्ड-ब्रह्माण्ड तथा अन्य पदार्थ आदि हरि के द्वार पर, खड़े हुए, भिखारियों की तरह कुछ पा जाने की आशा से उसका गुणानुवाद करते

---

१. योद्धे। १. शूरवीर। ३. ब्रह्माण्ड। ४. वे ही। ५. अनुरक्त। ६. रस-मग्न।

सोई सोई१ सदा सचु साहिबु
साचा साचा नाई२ ॥
है भी होसी जाइ न जासी
रचना जिनि३ रचाई ॥
रंगी रंगी भाती४ करि करि
जिनसी५ माइआ जिनि उपाई ॥
करि करि वेखै कीता आपणा
जिव तिस दी वडिआई ॥

रहते हैं। उनकी सत्ता सर्वकालीन अर्थात् एक-रस न होकर विकारी-एवं परिवर्तनशील है। इस वास्तविकता का प्रकाश हो जाने पर साधक आनन्द-मग्न होकर कह उठता है) :

वही; केवल वह स्वामी ही सब समय स्थिर,अक्षुण्ण रहने वाला है। प्रभु स्वयं त्रिकाल-अबाध सत्य है और उसका नाम (वड़ाई) भी शाश्वत है।

ऐसा वह हरि – जिसने यह सारी रचना रची है अब है, और भविष्य में भी रहेगा। वह न कहीं जाता है और न जाएगा।†

जिस कर्त्तार स्वामी ने विभिन्न रगों, भांतियों तथा पदार्थों वाली माया की यह उत्पत्ति कर दी है वह जगत्-रचना करके अपनी बड़ाई के अनुरूप स्वयं ही उसकी देख-रेख करता है।*

---

१. केवल वह ही। २. बड़ाई। ३. जिसने। ४. भांति। ५. पदार्थों से।

†सृष्टि प्रति-पल अपना रूप बदलती रहने के कारण नश्वर है। सब कुछ, जो उत्पन्न होता है उसका विनाश अवश्य होगा। परन्तु परमात्मा कभी पैदा नहीं होता, इसलिए सदैव एकरस, एकरूप रहता है।

*प्रभु अपनी माया फैला कर सृष्टि की रचना करता है और आप ही उसकी पालना आदि करता है। इस प्रबन्ध के लिए उसे किसी की सहायता नहीं लेनी पड़ती। सब कुछ उस पर ही आश्रित है।

जो तिसु भावै सोई करसी
हुकमु न करणा जाई ॥
सो पातिसाहु साहा पातिसाहिबु
नानक रहणु रजाई ॥२७॥*

परमात्मा को जो भाएगा, उसे जो कुछ भी अच्छा लगेगा वह वही करेगा। (याद रहे कि इस विषय में किसी द्वारा भी उस पर) हुकम नहीं चलाया जा सकता। (अथवा उसको कोई आदेश देना वजा अर्थात् उचित नहीं है क्योंकि उसके कार्यों में किसी भी प्रकार का हस्ताक्षेप सम्भव नहीं।)

परमात्मा सबसे बड़ा शासक है। वह राजाओं का भी महाराजा है। सब सृष्टि उसकी अधीनता में है। स्वामी के साथ किसी का कोई आदेश नहीं चलता, बल्कि उससे तो विनय करना ही हमारा कर्तव्य है।)

हे नानक ! सब जीवों का उस सर्वशासक हरि की प्रसन्नता के अनुसार, उसकी रजाई (अथवा अनुशासन) मे रहना ही उचित है ॥२७॥

[हरि-मिलन के लिये लोग भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को अपनाकर उनकी वेषभूषा धारण कर लेते हैं जो कुछ समय बीत जाने पर केवल अर्थहीन चिन्हमात्र ही रह जाती है, क्योंकि साधारणतया लोग उसके पीछे छिपी हुई भावना की परवाह न करके साधन को ही साध्य समझ बैठते हैं।

श्री गुरु नानक देव जी के जीवन-काल में भारत की धार्मिक-स्थिति ठीक ऐसी ही थी। अनेक छोटे-छोटे मत-मतान्तर प्रचलित थे। सिद्धों, ग्रन्थों का बड़ा प्रभाव था, परन्तु वे भी धर्म के मूल तत्त्वों को भुला कर

---

*नोट :—यह पद 'जपुजी' के अतिरिक्त दो बार और सोदरु रागु आसा महला १' तथा 'रागु आसा महला १ घरु १' के शीर्षक से 'आदि-ग्रन्थ' में क्रमशः पृष्ठ ८ और ३४७ पर भी आया है। किन्तु वहां पर कुछ शब्दों के उच्चारण में अन्तर है जो सम्भवतः गाने के लिए किया गया होगा, परन्तु पाठान्तर होने से विषय या अर्थों में कोई परिवर्तन नहीं होता।

मुंदा संतोखु सरमु[१] पतु[२] झोली[३]
धिआन की करहि बिभूति[४] ॥

पथभ्रष्ट हो गये थे जिसका उदाहरण 'मुद्रा, मदिरा, मैथुन, मांस, मत्स्य' आदि, पांच मकारों को अपनी साधना का प्रमुख अङ्ग बनाने वाले वज्रयान अथवा वाममार्गी सिद्ध-सम्प्रदाय की स्थापना है।

गुरु नानक देव जी ने सिद्ध एवं नाथ-योगियों के अनेक मठों पर जा कर उनसे ज्ञान-गोष्ठियां कीं* और उन्हें बाह्याडम्बरों का परित्याग और दैवी-गुणों का संग्रह करके आत्म-योग अपनाने का सदुपदेश दिया जिसकी झलक आगे आने वाली चार पौड़ियों में स्पष्ट दिखाई देती है।

योगियों द्वारा पूछे जाने पर श्री गुरु महाराज पिछले चरण में वर्णित 'सो दरु' तक पहुंचा देने वाले 'तात्त्विक-योग' पर अपना मत स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि—

हे योगी ! हम कानों में काष्ठ अथवा पत्थर के बने कुण्डल पहनने की अपेक्षा) सन्तोष रूपी (आत्मिक गुण धारण करते हैं, यही हमारी) मुद्रायें हैं। (तुम्हें तो भिक्षा के लिए द्वार-द्वार पर भटक कर जगहंसाई से भी लाज नहीं आती, परन्तु हम किसी से भीख नहीं मांगते, अपितु परिश्रम करके अपनी आजीविका कमाने को ही पसन्द करते हैं। इस प्रकार) श्रम के खप्पर और झोली रखते हैं और परमेश्वर के निरन्तर-ध्यान की विभूति रमाते हैं। (शरीर पर विभूत लगाने से देह-अध्यास समाप्त नहीं हो जाता; शरीर का ध्यान बना ही रहता है और यही वह भ्रम की दीवार है जो आत्मा को परमात्मा से अलग किये हुए है। इस अन्तरे को मिटाने के लिये ध्यानी होकर 'सुरति' को 'हरि-नाम' में लगाये रखना है। बस, यही असली विभूति है ; इसे खूब रमाओ।)

१. श्रम। २. खप्पर। ३. कपड़ा मोड़ कर बनाई हुई थैली। ४. भस्म।

*इस विषय पर श्री गुरु नानक देव जी द्वारा रचित 'सिध-गोषिट' नामक वाणी भी 'आदि-ग्रन्थ' में संग्रहीत है।

खिथा[१] कालु कुआरी काइआ
जुगति[२] डंडा परतीति[३] ॥
आई पंथी सगल जमाती[४]
मनि जीतै जगु जीतु ॥

हमने देह को कालवश समझा है यही हमारी गुदड़ी है।(कंथा पहन कर दिखावा करने का क्या लाभ? मृत्यु को याद रखना और उसके लिये तैयार रहना ही अपेक्षित है।) देह को कुमारी (कन्या की तरह विकारों से अछूता) रखना ही हमारी योग की युक्ति है*। (इसी द्वारा मन-बुद्धि को देह-अध्यास से हटा कर 'सुरति' में समाया जाता है और फिर 'सुरति' को 'हरि-नाम' में लीन करके आत्मा का परमात्मा से योग मिलाप प्राप्त किया जाता है)। अन्तर्मन में प्रभु पर अटल विश्वास ही हमारा डण्डा है। (वही हमारा एक-मात्र आश्रय है। इस आध्यात्मिक वेष को धारण करके कोई भी मनुष्य सत्-पथ का अनुयायी अथवा राही बन सकता है।)

सब (जीवों को एक पिता-परमात्मा की सन्तान जान कर उनके) सहचारी होना अर्थात् सब से प्रेम-पूर्ण व्यवहार करना ही हमारा 'आई-पंथ' है। (तिलस्मी चमत्कार दिखा कर और छद्म-वेष अथवा कृत्रिम आचरण द्वारा लोगों को वश में करने की अपेक्षा गुरू परब्रह्म की कृपा द्वारा) मन को जीतना चाहिए क्योंकि इसी में वास्तविक विश्व-विजय है।†

१. कंथा; गुदड़ी। २. युक्ति। ३. निश्चित विश्वास। ४. सब के सजाति।

*क्योंकि वह काल की मंगेतर (Fiancee) है। जैसे कुमारी-कन्या को एक दिन दूल्हा विवाह कर ले जाता है उसी प्रकार अन्त समय देह भी काल-व्याल को सौंप दी जाती है।

†क्योंकि मन ही तो अपने ज्योति-स्वरूप को भूल कर भ्रम में फंसा हुआ है। जब वह वश में आ गया तो सभी अपना और हरि का रूप ही दृष्टिगत होंगे। तब कौन, जीतेगा और किसे जीतेगा ?

आदेसु[१] तिसै आदेसु ॥
आदि अनीलु[२] अनादि अनाहति
जुगु जुगु एको वेसु ॥ २८ ॥
भुगति[३] गिआनु दइआ भंडारणि[४]
घटि घटि वाजहि नाद ॥
आपि नाथु नाथी सभ जा की
रिधि सिधि अवरा[५] साद[६] ॥

हमारा प्रणाम है ! केवल उसी प्रभु को प्रणाम है; जो सब का ग्रादि, मायामल रहित (शुद्ध-स्वरूप), ग्रनादि, तथा ग्रनश्वर है ; जो हरेक युग में (हर समय) एक ही ग्रपरिवर्तित रूप में (एकरस) रहता है ॥२८॥

(हे योगी तुम्हारे ! भण्डारों में बांटे जाने वाले भोजन में कोई विलक्षणता नहीं होती। वह केवल पेट ही भर सकता है। उसका लाभ ग्रोर, कभी-कभी ग्रधिक खा जाने के कारण,हानि भी शरीर को ही पहुंचती है। परन्तु मनुष्य-जीवन का लक्ष्य केवल पेट पालना ही नहीं हो सकता क्योंकि वह तो पशु भी कर लेते हैं। ग्रतएव ग्रात्मोद्धार के लिए हम) परमात्मा की दया-दृष्टि के शाश्वत (Perennial) भण्डारों में ग्रात्म-ज्ञान रूपी (ग्राध्यामिक) भोजन प्राप्त करते हैं (ग्रौर शङ्ख ग्रथवा सिंगी की बाह्य ध्वनियों की ग्रपेक्षा ग्रन्तर्मुख होकर) प्रत्येक जीव के ग्रन्तःकरण में बजने वाले (ग्रात्म-सत्ता रूपी ग्रादि ध्वनि के) ग्रन्तर्नाद को सुनते हैं।

परम-पुरुष परमात्मा, जिसने सारी सृष्टि को वश में करके उस पर ग्रपनी प्रभुता जमाई हुई है, वह स्वयं ही हमारा नाथ (प्रधान-योगी) है, हम ऋद्धि-सिद्धियाँ (प्राप्त करने के चक्कर में नहीं पड़ते, क्योंकि वे) हरि-मिलन में सहायक न होकर (उससे दूर ले जाने वाले) किसी ग्रौर ही किस्म के (निकृष्ट) स्वाद हैं।

१. प्रणाम। २. निरञ्जन। ३. भोजन। ४. भण्डारों में
५. ग्रन्य ; निकृष्ट। ६. स्वाद।

संजोगु विजोगु दुइ कार चलावहि
लेखे आवहि भाग ॥
आदेसु तिसै आदेसु ॥
आदि अनीलु अनादि अनाहति
जुगु जुगु एको वेसु ॥ २९ ॥
एका माई[1] जुगति[2] विआई
तिनि चेले परवाणु[3] ॥
इकु संसारी इकु भंडारी इकु लाए दीबाणु[4] ॥

उस विश्वनाथ, हरि परमेश्वर के आदेश में ही (पदार्थों के) संयोग-वियोग अर्थात् मिलन और बिछोह (के दोनों नियम) जगत् के कार्य को चला रहे हैं। इन नियमों के फल-स्वरूप जो कुछ भी किसी के हिसाब में (लिखा) होता है उसे वही प्राप्त होता है।

हमारी नमस्कार है उस 'नाथ' को जो आदि रहित सबका मूल शुद्ध-स्वरूप, अनश्वर और सदैव एकरूप रहने वाला है ॥२९॥

(हे योगी! तुम कहते हो कि) एक माया 'चेतन' से संयुक्त होकर प्रसूता हुई (जिससे सारा संसार उत्पन्न हुआ। उसके तीन मुख्य) चेले* माने जाते हैं। उनमें से एक सांसारिक अर्थात् ब्रह्मा (जो उत्पत्ति करता) है; दूसरा भण्डारी (अर्थात् संसार की पालना करने वाला विष्णु) और तीसरा दीवान लगाने वाला (शिव) है (जो सृष्टि का संहार करता है)।

१. माता ; माया। २. युक्ति व संयोग से। ३. स्वीकृत।
४. दीवान ; दरबार।

*ब्रह्मा, विष्णु और शिव को माया के चेले अथात् शिष्य सम्भवतः इसलिए कहा गया है क्योंकि वे माया की फांस से स्वतन्त्र नहीं बल्कि वे तो उसके 'रज, सत्व और तम' आदि तीन विशेष गुणों में से एक-एक का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जिव तिसु भावै तिवै चलावै
जिव होवै फुरमाणु ॥
ओहु वेखै ओना[1] नदरि न आवै[2]
बहुता एहु[3] विडाणु[4] ॥
आदेसु तिसै आदेसु ॥
आदि अनीलु अनादि अनाहति
जुगु जुगु एको वेसु ॥३०॥

(परन्तु तुम्हारी यह धारणा सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि तत्त्वत: इन देवताओं की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। वे तो हरि की अपारशक्ति के तीन मुख्य भाग हैं। उनके अपने वश में कुछ नहीं है। अपितु) परमात्मा को जैसे अच्छा लगता है वह संसार को वैसे ही चलाता है। (सब शक्तियां वैसे ही कार्य करती हैं जैसा उन्हें हरि का) आदेश होता है।

यह बड़े अचम्भे की बात है (कि तुम इन्हीं को संसार के कर्त्ता, भर्ता एवं संहर्ता आदि सब कुछ समझ बैठे हो ; जबकि ये केवल अन्ध शक्तियां-मात्र ही हैं। हे योगी !) वह सर्वनियन्ता परमात्मा इन सब को सदैव देखता रहता है परन्तु आप उन्हें कभी नजर नहीं आता।†

(हे योगी ! तुम लोग गोरखनाथ को आदेश करते हो। किन्तु) हमारा प्रणाम है उसी विश्वनाथ, हरि को जो आदेश-रहित सब का आदि, अनन्त, अमल (शुद्ध-स्वरूप) अनश्वर तथा युग-युगों में सदा एक समान रहता है॥३०॥

---

१. उनको ; उनकी। २. दृष्टि में नहीं आता। ३. यह। ४. विस्मय ; अचम्भा।

†ये शक्तियां अन्धी एवं यान्त्रिक हैं। उन्हें किसी प्रकार की भी स्वतन्त्रता नहीं है, उनका कोई भी कार्य उनकी अपनी बुद्धि या इच्छा पर आधारित नहीं है। वे सब माया के अधीन हैं जिसका पर्दा बीच में पड़ा होने के कारण वे अपने कर्ता, धर्ता, संचालक एवं स्वामी जगदीश्वर परब्रह्म को देखने अथवा जानने में असमर्थ हैं।

आसणु[1] लोइ[2] लोइ भंडार[3] ॥
जो किछु पाइआ सु एका वार ॥
करि करि वेखै सिरजणहारु[4] ॥
नानक सचे की साची कार ॥
आदेसु तिसै आदेसु ॥
आदि अनीलु अनादि अनाहति
जुगु जुगु एको वेसु ॥३१॥

(परमात्मा की सर्वोपरि सत्ता को दुहराते हुए श्री गुरु जी योगियों से कहते हैं कि तुम अपने आदि-नाथ शिव का आसन और उसके भण्डार 'शिवपुरी' में बताते हो परन्तु हमारा नाथ तो शिवजी का भी कर्त्ता एवं स्वामी है। उसका आसन (किसी विशेष लोक में न हो कर) हरेक स्थान पर है। (जहां वह है, वहीं इसकी विभूतियां हैं, अतएव हरि के) भण्डार भी सर्वत्र व्याप्त हैं।

(और उनकी विलक्षणता यह है कि परम-कृपालु परमेश्वर ने अपने भण्डारों) में जो कुछ भी रखना था वह सब एक ही बार (सदैवकाल के लिये ऐसी विचित्र रीती से) डाल दिया है (कि वे कभी समाप्त या रिक्त नहीं होते। कोई भी पदार्थ पूर्णतया विनष्ट नहीं होता। उसका रूप, स्थान एवं गुण बदलते रहते हैं। अतएव हरि के भण्डारों की व्योंत एक चक्र के समान है जिसका कोई ओर-छोर ही नहीं मिलता।

इस सृष्टि का कर्त्ता और पालक कोई अन्य नहीं।) कर्त्तार-हरि जगत्-रचना कर-कर के स्वयं सर्वत्र साक्षी बना हुआ उसकी देख-भाल, करता है।

हे नानक! सदा स्थिर रहने वाले प्रभु-परमात्मा का (यह जगत की रचना, पालन आदि का) कार्य भी नित्य-निरन्तर एवं अटल है।

अस्तु! हमारी नमस्कार है उसी परमेश्वर को जो सब का मूल, अमल, निराकार, अनादि, अनश्वर और सदैव एकसार रहने वाला है॥३१॥

१.गद्दी। २. प्रत्येक लोक में। ३. कोठार(Store house)। ४.स्रष्टा;कर्त्ता।

इकदू[1] जीभौ लख होहि लख होवहि लख वीस ॥
लखु लखु गेड़ा[2] 'आखीअहि एकु नामु जगदीस ॥
एतु राहि पति पवड़ीआ चड़ीऐ होइ इकीस[3] ॥
सुणि गला आकास की कीटा आई रीस[4] ॥

(हरि की सर्वोपरि शक्ति और महिमा का निदर्शन कराकर अब परम उत्साह एवं तन्मयता से केवल उसी के ध्यान तथा स्मरण का अखण्ड-चक्र चलाने का आदेश देते हुए कहते हैं) :

यदि एक जीभ से लाख जिह्वायें हो जायें और फिर वे लाख जीभें बढ़ कर बीस लाख हो जायें तो उन सबमें से हरेक जीभ द्वारा केवल जगत्-पति परमात्मा का नाम ही लाख-लाख बार (अर्थात् नित्य-निरन्तर) उच्चारण किया जाना चाहिये ।

इस रीति से पति-परमेश्वर (के महल) तक जाने वाली (आत्मोन्नति की पौड़ियां चढ़ी जाती हैं और अन्त (तुरीय-पद प्राप्त करके) जीव हरि (में विलीन होकर उस) से एक हो जाता है ।

ऊंचे आत्मिक मण्डलों में विचरण करने वाले ऐसे साधक की उच्च-अवस्था की वार्तायें सुन कर नीचाचारी तुच्छ जीव उसकी स्पर्द्धा करने लगते हैं। मानों) आकाश की बातें सुन कर पृथ्वी पर रेंगने वाले) कीड़ों (के मन में उड़ने की इच्छा उत्पन्न हो गई है और वे आकाश में उड़ने वाले (पक्षियों की)रीस(अर्थात् नकल या बराबरी) करने लगे हैं ।(परन्तु हंसों को तैरते हुए देख कर यदि बगले भी तैरने के लिये अपने आप को जलाशय में छोड़ दें तो उनकी क्या दशा होगी ? सिर नीचे और टांगें ऊपर ! वे बपुरे डूब कर मर जायेंगे।†अतएव उनका स्वांग उतारने की अपेक्षा उनके

१. एक से । २. चक्र ; बार । ३. तुरीय-पद । ४. स्पर्द्धा; स्वांग ।
†हंसा देखि तरंदिआं बगां भि आइआ चाउ ॥
डुबि मुए बग बपुड़े सिरु तलि उपरि पाउ ॥ (आदि ग्रन्थ, पृ० ५८५)

नानक नदरी पाईऐ कूड़ी कूड़ै ठीस[1] ॥३२॥
आखणि जोरु[2] चुपै[3] नह जोरु ॥
जोरु न मंगणि देणि न जोरु ॥
जोरु न जीवणि मरणि नह जोरु ॥
जोरु न राजि मालि[4] मनि सोरु[5] ॥

गुणों को धारण कर लेना चाहिये, अन्यथा जोखिम है !)

हे नानक ! यह अवस्था तो प्रभु की कृपा-दृष्टि द्वारा ही पाई जा सकती है। शेष सब मिथ्याचारी लोगों की गप्पें-मात्र ही हैं ॥३२॥

[हरि सब का पर्यावसान है, उसकी इच्छा परम व अन्तिम है। उसके विरुद्ध जीव का कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। अतः साधक को अहं-भावना से सदैव सचेत रहना चाहिये क्योंकि अहंकार और 'हरि-नाम' कभी इकट्ठे नहीं रह सकते। हमें यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिये कि] :

(बोलने या परमात्मा के गुण) कहने में और मौन धारण कर लेने में भी जीव का अपना कोई बल नहीं है।

(भिखारी बन कर किसी प्रकार की) याचना करने में जीव की कोई सामर्थ्य नहीं और न ही दान देने में उसका अपना कोई बल है।

न तो जीवन जीने (या बिताने) में जीव का कोई स्वत्व (अख्तयार) है और न ही मरने में उसकी कोई शक्ति है। (जीना या मरना किसी के अपने वश की बात नहीं। हरि द्वारा भेजे जाने पर जीव संसार में आ जन्म लेते हैं और बुला लिये जाने पर देह-त्याग कर वापिस चले जाते हैं।*)

राज्य तथा पदार्थ-सम्पत्ति आदि को पाने में भी जीव का कोई बल नहीं (और उनके लिये) मन में मची रहने वाली खलबली भी उसके वश में नहीं है। (धन और ऐश्वर्य भगवान् की कृपा से ही मिलते हैं।)

१. गप्प। २. बल ; अधिकार। ३. चुप रहने में। ४. सामग्री। ५. शोर

*'घले आवहि नानका सदे उठी जाहि ॥' (आदि ग्रन्थ, पृ० १२३९)

जोरु न सुरती गिआनि वीचारि ॥
जोरु न जुगती[१] छुटै संसारु ॥
जिसु हथि[२] जोरु करि[३] वेखै सोइ[४] ॥
नानक उतमु नीचु न कोइ ॥३३॥
राती रुती थिती वार[५] ॥
पवण पाणी अगनी पाताल ॥

आत्म-जागृति, ज्ञान-प्राप्ति और विचार—चिन्तन करने में भी किसी जीव का अपना कोई वश नहीं (चलता)।

(किसी जीव में कोई ऐसी) युक्ति (खोजकर उसका प्रचार करने तथा उसके अनुसार चलने-चलाने) में भी कोई अपना बल नहीं; (ऐसी युक्ति जिसमें कि सारा) संसार भव-बन्धन से छूट (या विमुक्त, हो) सके।

(सब प्रकार का बल जिस सर्वनियन्ता परब्रह्म के वश में है वह आप ही सारी रचना करके उसकी देखरेख (सम्भाल) करता है। (सब शक्तियां हरि के अधीन हैं। जीव की अपनी कोई स्वतन्त्र सामर्थ्य नहीं*।)

हे नानक! अपनेआप में कोई भी जीव उत्तम या नीच नहीं ॥३३॥

[बत्तीसवें चरण में प्रभु-मिलन की पौड़ियों का संकेत दिया गया था। ये आत्मिक उन्नति की अवस्थायें हैं। इनको श्री गुरु जी ने 'धर्मखण्ड', 'ज्ञान-खण्ड', 'सरम-खंड' और 'करम-खण्ड' आदि नाम दिये हैं। 'कर्म खण्ड' के बाद 'सचखण्ड' आता है जिसमें पहुंच कर साधक निराकार हरि में विलीन हो कर उससे एकरूप हो जाता है। अब क्रमशः इन्हीं 'खण्डों' का वर्णन करते हैं।]:

(सृष्टि-प्रबन्ध चलाने के लिये) दिन, रात, तिथियां, ऋतुएं, वायु, जल, अग्नि (आकाश और) पाताल आदि (बना कर परम-पुरुष परमेश्वर न

---

१. युक्ति। २. हाथ, वश में। ३. करके। ४. वह ही। ५. दिन।

*इस पद में 'जोरु' शब्द का किया गया अर्थ 'जोर' आम प्रचलित है। हमारे विचार में इसका अर्थ 'जोड़' या प्रभु-मिलाप' भी हो सकता है।

तिसु विचि धरती थापि रखी धरमसाल ॥
तिसु विचि जीअ[1] जुगति[2] के रंग ॥
तिन के नाम अनेक अनंत ॥
करमी करमी[3] होइ वीचारु ॥
सचा आपि सचा दरबारु ॥
तिथै सोहनि पंच परवाणु ॥
नदरी करमि पवै नीसाणु[4] ॥

इस (देश-काल के घेरे) में कर्तव्य-क्षेत्र रूपी धरती टिका रखी है।

कर्त्ता-पुरुष परब्रह्म की इस नानारूप रचना में कई रंगों, ढंगों एवं भांतियों के जीव हैं। उनके नाम भी अनेक-अनन्त हैं।

(धर्म-क्षेत्र में नियुक्त होने के कारण कर्तव्य-पालन सब शक्तियों और जीवों के आचरण का आवश्यक अङ्ग है। वे अटल दैवी-नियम में बंधे हैं इसलिए उनके अपने-अपने किये हुए) कर्मों के अनुसार ही हरि के दरबार में विचार या परख की जाती है। (वहां किसी के साथ पक्षपात नहीं किया जाता ; वहां पर किसी प्रकार की सिफारिश नहीं चल सकती, क्योंकि)

(त्रिकाल-अबाधित हरि) स्वयं सत्य-स्वरूप है और (जहां वह जीवों के कर्मों को परख कर न्याय-निर्णय करता है, वह) दरबार भी सच्चा है। (वहां कभी भी कोई ग़ल्त अथवा अन्याय-पूर्ण निर्णय नहीं होता।*)

उस दरबार में (हरि-नाम का श्रवण, मनन तथा साक्षात्कार करके प्रभु की दृष्टि में स्वीकृत हुए पूर्ण-सन्त शोभा देते हैं।

वहां पहुंचे हुए भक्तों को प्रभु-कृपा का चिन्ह प्राप्त होता है।

---

१. जीव-जन्तु। २. रंग-ढंग। ३. कर्मों के अनुसार। ४. चिन्ह—**Medal**

*ईश्वरीय न्यायालय का चलन बड़ा ही अपूर्व व विलक्षण है। वहां, निर्णय करने के लिए, किसी साक्षी अथवा पूर्व-दृष्टान्त (**Precedence** की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि सर्वान्तर्यामी हरि आप ही सबका साक्षी है। उससे कुछ भी छिपा सकना सम्भव नहीं।

कच पकाई ओथै[1] पाइ ॥
नानक गइआ जापै जाइ ॥३४॥
धरम खंड का एहो[2] धरमु ॥
गिआन खंड का आखहु करमु॥
केते पवण पाणी वैसंतर केते कान[3] महेस ॥
केते बरमे घाड़ति[4] घड़ीअहि रूप रंग के वेस ॥
केतीआ करम भूमी मेर केते केते धू उपदेस[5] ॥

वहां, कर्तव्य-क्षेत्र में धर्म-निष्ठ होने पर कच्चे साधक पक्काई पाते हैं। (वे हरि-भक्ति में दृढ़ता पूर्वक जुट जाते हैं।)

(संसार में यदि कोई चाहे तो पाखण्ड रचा कर, दूसरों की आंखों में धूल झोंक कर अपने आप को सिद्ध अथवा पहुंचा हुआ प्रसिद्ध कर सकता है, परन्तु) हे नानक ! (परमात्मा के द्वार पर) पहुंचते ही (वास्तविकता का) पता चल जाता है (कि कौन पक्का है और कौन कच्चा।

धर्मखण्ड का यही नियम है (जो पीछे कहा गया है)।

(कर्तव्य-पालन तथा धर्म-आचरण में पक्का-पूरा हो जाने पर जीव जिस अगली भूमिका में प्रविष्ट होता है वह) ज्ञान-खण्ड (है अब मैं उसी) के कार्य-व्यापार का कथन करता हूं।

(ज्ञान-अवस्था में पहुंचे हुए साधक की प्रतिभा विकसित हो जाती है और वह जान जाता है कि संसार में एक नहीं) अनेक ही पवन, पानी तथा अग्नियां (अपना-अपना कर्तव्यपालन कर रहे) हैं। कृष्ण और शिव (आदि के अवतार भी) कितने ही हैं।

(रचना के क्रम में) कितने ही ब्रह्मा हैं। कितने ही रूपों, रंगों तथा भांतियों वाली जगत्-रचना सदा हो रही है।

कितनी ही कर्म-भूमियां, अनेकों सुमेरु (पर्वत) और ध्रुव-प्रदेश हैं।

---

१. वहां। २. यही। ३. कान्ह; श्री कृष्ण। ४. रचना। ५. ध्रुव-प्रदेश।

केते इंद चंद सूर[१] केते केते मंडल देस[२] ॥
केते सिध बुध नाथ केते केते देवी वेस ॥
केते देव दानव मुनि केते केते रतन समुंद ॥
केतीआ खाणी[३] केतीआ बाणी केते पात नरिंद[४] ॥

ज्ञान-भूमिका में साधक जान लेता है कि विश्व में कितने ही देवताओं के राजे इन्द्र हैं। चांद, सूरज और सौर-मण्डल भी असंख्य हैं।*

(कर्त्तार-स्वामी की विशाल रचना में) अनेक ही (सिद्धियां आदि अलौकिक शक्तियां प्राप्त करने वाले, पके हुए) सिद्ध ; प्रबुद्ध-ज्ञानी (या महात्मा बुद्ध), (कनपटे) नाथ-योगी और नाना प्रकार के वेषों वाली देवियां हैं।

कितने ही देवता और राक्षस हैं ; अनेक ही मननशील तपस्वी हैं। समुद्र और उनमें से निकलने वाले रत्न भी असंख्य हैं।†

(साधारणत: अण्ड, जरायु, स्वेद और पृथ्वी आदि उत्पत्ति के चार) उद्गम-स्रोत (माने जाते हैं परन्तु ज्ञान-खण्ड में पहुंचने पर ज्ञात हो जाता है कि वे केवल चार ही न होकर) अनगिनत हैं ; जीवों की भाषायें भी असंख्य हैं और राजा-लोग भी विविध-वंशी हैं।

१. सूर्य। २. सौर-मण्डल। ३. कानें—**Mines.** ४. नरेन्द्र; राजे।

*आधुनिक खगोल-शास्त्र अथवा नक्षत्र-विज्ञान (**Astronomy**) का भी यही मत है कि जगत्-रचना में असंख्य ही सूर्य, चांद तथा पृथ्वियां हैं और हरेक सूरज (के गिर्द घूमने वाले ग्रहों) का अपना अपना सौर-मण्डल (**Solar System**) है; प्रत्येक धरती के अपने-अपने ध्रुव-प्रदेश हैं।

†एक पौराणिक कथा है कि अतीत-काल में देवताओं और दानवों ने शेष-नाग को रस्सी और समेरु-पर्वत की मथनी बना कर क्षीर सागर को बिलोया और उसमें से अमृत, विष, सुरा, रम्भा, लक्ष्मी, कल्पतरु, कामधेनु आदि चौदह रत्न प्राप्त हुए। हमारे विचार में यहां श्री गुरु जी ने इसी गाथा का निर्देश करके आध्यात्मिक परिवेश एवं संदर्भ में उसका तात्त्विक विराट्-रूप प्रस्तुत किया है।

केतीआ सुरती[1] सेवक केते नानक अंतु न अंतु ॥३५॥
गिआन खंड महि गिआनु परचंडु ॥
तिथै नाद[2] बिनोद[3] कोड[4] अनंदु ॥
सरम खंड की बाणी[5] रूपु[6] ॥

कितनी ही श्रुतियां (अथवा जीवों की उच्च-वृत्तियां) हैं और (अपनी 'सुरति' को सदैव हरि-ध्यान में लगाए रखने वाले) भक्त भी अनगिनत हैं।

हे नानक ! अन्त (यह कहना ही उचित है कि पूर्ण सज्ञान-अवस्था में साधक को जो कुछ ज्ञात हो जाता है उस का) कोई अन्त ही नहीं ॥३५॥

ज्ञान-भूमिका में ज्ञान का प्रकाश अत्यन्त प्रखर (तेज) होता है। (इस अवस्था में साधक को पूर्ण-ज्ञान हो जाता है)।

वहां साधक को सभी प्रकार के रसात्मक स्वरों, कौतूहल भरे खेल-तमाशों (नाटकों आदि) का आनन्द प्राप्त हो जाता है।

[यहां तक ज्ञान-खण्ड की व्याख्या है। जैसा कि पहले कहा गया है साधक कर्तव्य एवं धर्म-निर्वाह करता हुआ विशुद्ध-ज्ञान की प्राप्ति कर लेता है। जब उसे मालूम हो जाता है कि परमात्मा आनन्द का स्रोत है तो उसकी बुद्धि पर पड़ा हुआ भ्रम का पर्दा हट जाता है; वह हरेक वस्तु को देख कर उसके रचयिता हरि का विचार करता है तो सर्वत्र प्रभु-परमात्मा की झलक देख कर उसे प्राप्त करने के लिए अपने पथ पर आगे बढ़ने के लिये 'आत्म-साधना' में जुट जाता है। उसकी इस अवस्था का नाम 'सरम' अर्थात् 'श्रम-खण्ड' है। इसका वर्णन करते हुए श्री गुरु जी कहते हैं] :

सरम-खण्ड की बनावट 'रूप' है। (इस भूमिका में पहुंचे हुए जीव को सर्वत्र प्रभु का सौंदर्य बिखरा हुआ दिखाई देता है। उसे हरेक वस्तु कर्त्ता-पुरुष, पुरुषोत्तम परब्रह्म की ओर प्रेरित करती है।)

---

१. श्रुति ; 'सुरति'। २. ध्वनि ; रागात्मक स्वर। ३. खेल-तमाशे। ४. कौतूहल। ५. बनावट (का मुख्य अङ्ग)। ६. आकृति ; सौंदर्य।

तिथै घाड़ति[१] घड़ीऐ बहुतु अनूपु[२] ॥
ताकीआ गला[३] कथीआ ना जाहि ॥
जे को कहै पिछै पछुताइ ॥
तिथै घड़ीऐ सुरति मति मनि बुधि ॥
तिथै घड़ीऐ सुरा[४] सिधा की सुधि[५] ॥३६॥

वहां (अर्थात् श्रम-खण्ड में साधक के मानस एवं आचरण को) बड़े ही अनुपम ढंग से ढाला जाता है।

इस खण्ड की वार्ताएं कही नहीं जा सकतीं। (वहां पर पहुंच कर साधक परमानन्द में मग्न रहते हैं। वे कथन क्या करें? यह साधना और अनुभव का क्षेत्र है, अतः इस भूमिका में विचरण करने वाले जीव ही जानते हैं कि वहां का दृष्य कितना मनोहर है। इसका वर्णन कर सकना किसी के वश की बात नहीं। इसलिये)

यदि कोई इसका वर्णन करे (तो वह इसका केवल आभास-मात्र ही दे सकेगा कि उसे आनन्द प्राप्त हुआ है। परन्तु, वह आनन्द क्या है? कैसा है? यह कौतुहल ही रह जाएगा और कहने वाला) अन्त (अपनी अयोग्यता एवं असफलता पर) पश्चाताप ही करेगा।

इस अवस्था में साधक की मति, बुद्धि और मन में उच्च आत्मिक वृत्ति (नये रूप से) गढ़ी जाती है। (उसका बौद्धिक, मानसिक और आत्मिक विकास हो जाता है।)

वहां साधारण जीवों को भी देवताओं और सिद्ध-सन्तों की सूझ अर्थात् उनकी सूक्ष्म-दृष्टि और अन्तर्ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

(सरम-खण्ड में साधक निरन्तर साधना में जुटा रहता है जिसके फल-स्वरूप उसका कायापलट हो जाता है और उसे पूर्ण-सन्तों जैसी सूक्ष्म-सूझ प्राप्त हो जाती है। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि आत्मिक राह में साधना, तप आदि द्वारा प्राप्त हुई शक्तियां ही पर्याप्त

१. रचना। २. अनुपम। ३. वार्तायें। ४. देवताओं की। ५. सूझ।

करम खंड की बाणी जोरु[1] ॥
तिथै होरु न कोई होरु ॥
तिथै जोध महाबल सूर[2] ॥
तिन महि रामु रहिआ भरपूर ॥
तिथै सीतो सीता[3] महिमा माहि ॥
ता के रूप न कथने जाहि ॥

नहीं हैं क्योंकि वे तो अहंकार का मूल बनकर घातक भी सिद्ध हो सकती हैं। अतएव प्रभु मिलन के लिये पूर्ण निरहंकारिता और हरि-कृपा की परम-आवश्यकता है। इस प्रकार श्रम-खण्ड* को लांघ कर साधक 'करम-खण्ड' में प्रविष्ट होता है।)

आत्मिक-बल (आंन्तरिक आवेश ही) 'करम-खण्ड' का विधान है।

वहाँ अन्य कोई नहीं है। (अर्थात् ईश्वरीय अन्तः प्रेरणा द्वारा प्रभु से मिले हुए साधकों के अतिरिक्त अन्य कोई इस अवस्था को नहीं पा सकता)।

इस खण्ड में केवल (मन एवं माया को पराजित करने वाले धीर पुरुष अथवा आध्यात्मिक) महाबली शूरवीर योद्धे ही रहते हैं। ऐसे साधकों के अन्तःकरण में सर्वव्यापक हरि पुर्णतया रमा हुआ होता है।

वहां (कर्म-खण्ड में पहुंचे हुए साधक का मन-आत्मा निरन्तर) परमात्मा की स्तुति में भली प्रकार सिया(जुड़ा) रहता है। (पति-परमेश्वर को कभी न भुलाने के कारण वास्तव में ही पतिव्रत-धर्म की साक्षात् मूर्तियां हैं। उनके अंग-अंग में 'सुन्दर' हरि का अपूर्व सौंदर्य झलक उठता है। यही कारण है कि) उन (साधकों) के स्वरूप कथन में नहीं आ सकते।

---

१. जोड़ ; आवेश। २. धीर-पुरुष। ३. भली प्रकार सिया हुआ।

*'सरम-खण्ड' में साधक सृष्टि के रूप से साधना में प्रवृत्त होकर आत्म-विस्मृत हो जाता है। उसे हरि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता। जब वह अपनी दशा आप भी नहीं जानता तो किसी दूसरे द्वारा उसका वर्णन हो सकने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

ना ओहि[1] मरहि न ठागे जाहि ॥
जिन कै रामु[2] वसै मन माहि[3] ॥
तिथै भगत वसहि के[4] लोग्र[5] ॥
करहि अनंदु सचा मनि सोइ ॥
सच खंडि वसै निरंकारु ॥

(ऐसे वे 'करम-खण्ड' में पहूंचे हुए साधक) जिनके मन में (नित्य, निरन्तर) हरि प्रत्यक्ष निवास करता है न (तो कालवश होकर) मरते हैं और न (माया के प्रभाव में आकर) ठगे ही जा सकते हैं। (हरि में लीन होने के कारण साधक भी हरि की तरह काल तथा माया के जाल से स्वतन्त्र हो जाता है)।

(और इस प्रकार निर्भ्रम हुई अबाध-दृष्टि से देखने पर वह जान जाता है कि आध्यात्मिक उन्नति की ये अवस्थायें किसी एक विशेष जाति, धर्म, देश अथवा लोक के जीवों के लिये ही सुरक्षित (Reserved) नहीं हैं, बल्कि) वहां पर (तो)अनेक ही लोकों के भक्त निवास (विचरण)करते हैं।

(और वे) सदा आनन्द लेते हैं क्योंकि सत्य, (आनन्द-स्वरूप परम-पुरुष परमात्मा स्वयं) उनके मन में निवास करता है।

(इस प्रकार अन्दर-बाहर, ऊपर-नीचे, सब ओर, सब जगह विद्यमान हरि की सत्ता के आनन्द-सागर में जब साधक की आत्मा रूपी नदी आ मिलती है तो वह सन्धि-स्थल 'कर्म खण्ड' कहलाता है। इसके पश्चात् आने वाली अन्तिम अवस्था का नाम 'सच-खण्ड' अर्थात् 'परम-सत्य का स्थान' है जिसे परम-पद तथा परम-धाम भी कहते हैं। प्रत्येक साधक का यही चरम लक्ष्य है। यहां पहुंच कर साधक की आत्मा आत्मसागर हरि में विलीन होकर तद्रूप हो जाती है; साधक साध्य में समा जाता है। उस की अपनी कोई अलग सत्ता नहीं रहती।)

अस्तु ! सचखंड में केवल निराकार हरि ही निवास करता है।

१. वे। २. परब्रह्म; हरि। ३. में। ४. कई। ५. लोकों के।

करि करि वेखै नदरि निहाल ॥
तिथै खंड मंडल वरभंड ॥
जे को कथै त अंत न अंत ॥
तिथै लोअ लोअ आकार ॥
जिव जिव हुकमु तिवै तिव कार ॥

(यह सहज-अवस्था हरि का निज-स्थान अथवा परम-धाम है यहां) वह (विविध-रूप) रचना (का फैलाव) कर-कर के उसकी सम्भाल करता है और (ध्यान में लीन हुए साधकों को) अपनी दया-दृष्टि द्वारा (अपने में समा कर) निहाल अर्थात् पूर्णकाम कर देता है।*

वहां (अर्थात् परमात्मा से एक होने वाली अवस्था में) सभी खण्ड (भू-भाग); मण्डल (सौर-चक्र) और ब्रह्माण्ड अवस्थित है। प्रभु परमेश्वर ही सारी जगत्-रचना की चरम-सत्यता है; वह सारी रचना का परम-अधिष्ठान एवं आश्रय-स्थल अथवा सम्बल है।)

(और) यदि कोई कथन करने लगे तो वह इस (असंख्य, खण्ड-ब्रह्माण्डों वाली रचना) का कोई अन्त पा ही नहीं सकेगा।

इस अवस्था में पहुंची हुई परम-आत्मा ही जानती है कि) वहां (अनेकों) लोक ही लोक और (उनमें पाये जाने वाले असंख्य ही सूक्ष्म एवं स्थूल) आकार (वाले जीव, पदार्थ आदि उपस्थित) हैं।

(उन सब की) क्रिया ठीक वैसे ही चलती है जैसा कि परब्रह्म परमेश्वर का आदेश होता है। इस अवस्था में पहुंच कर साधक को हरि का आदेश सर्वत्र व्याप्त हुआ दिखाई देता है। वह परमात्मा की सारी रचना और उसके अनुशासन में चल रहे सारे सृष्टि-चक्र को)—

*कर्म-खण्ड में साधक हरि से 'जोरु' अर्थात् 'जोड़' प्राप्त कर के सत्यखण्ड में पहुंच कर स्वयं साधक न रह कर साध्य बन जाता है। हरि-मिलन की उसकी विशुद्ध इच्छा पूरी हो जाती है।

वेखै विगसै[1] करि वीचारु ॥
नानक कथना करड़ा[2] सारु[3] ॥ ३७ ॥
जतु पाहारा धीरजु सुनिआरु ॥
अहरणि मति वेदु हथीआरु ॥

देखता है और (भगवान् की अवर्णनीय, महा-महिमा एवं परम-उज्वल सत्ता का विचार करके सदैव गद्गद् होता है।

(परन्तु) हे नानक! इस सर्वोच्च अवस्था का कथन करना लोहे (के चने चवाने) की तरह अतीव कठिन (असम्भव) है ॥ ३७ ॥

(अब 'जपुजी' का अन्तिम चरण आता है। इसमें श्री गुरू देव जी रूपक अलङ्कार द्वारा पूर्व-वर्णित आत्मिक उन्नति की अवस्थाओं को प्राप्त करने की रीति और मुख्य, आवश्यक अनुशासन का संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिये आचरण को सत्य के सांचे में ढालना है। जिस तरह सुनार अपनी आजीविका चलाने के लिये सोना, चांदी आदि किसी इच्छित बहुमूल्य धातु को पिघला कर अपने औजारों, की सहायता से नये-नये गहने गढ़ता बनाता है उसी प्रकार साधक के लिये भी दैवी-गुणों की सहायता से अपने आचरण को नये ढंग से गढ़ कर हरि-मिलन के योग्य बनाना है। कितना सुन्दर दृष्टान्त है! सुनार धातु को तपाता है और साधक अपने आचरण को!)

हे साधक! तुम) धैर्य (अर्थात् सब्र—यथालाभ पर सन्तोष कर लेने) को सुनार (कारीगर) और (इन्द्रियों को वश में करके) संयम रूपी (शुभ गुण को सुनार की दुकान (Workshop) अथवा भट्ठी बना लो।

(सुनार के पास एक निहाई होती है जिस पर टिका कर वह गर्म-धातु को हथौड़ी से कूटता है। तुम भी अविचल, दृढ़) मति को निहाई या टेक और यथार्थ-ज्ञान का हथौड़ा (बना कर धैर्य-रूपी सुनार के सपुर्द कर दो)

---

१. प्रसन्न होता है। २. कठिन ; सख्त। ३. लोहा ; लोहे की तरह।

करि करि वेखै नदरि निहाल ॥
तिथै खंड मंडल वरभंड ॥
जे को कथै त अंत न अंत ॥
तिथै लोअ लोअ आकार ॥
जिव जिव हुकमु तिवै तिव कार ॥

(यह सहज-अवस्था हरि का निज-स्थान अथवा परम-धाम है यहां) वह (विविध-रूप) रचना (का फैलाव) कर-कर के उसकी सम्भाल करता है और (ध्यान में लीन हुए साधकों को) अपनी दया-दृष्टि द्वारा (अपने में समा कर) निहाल अर्थात् पूर्णकाम कर देता है।*

वहां (अर्थात् परमात्मा से एक होने वाली अवस्था में) सभी खण्ड (भू-भाग); मण्डल (सौर-चक्र) और ब्रह्माण्ड अवस्थित है। प्रभु परमेश्वर ही सारी जगत्-रचना की चरम-सत्यता है; वह सारी रचना का परम-अधिष्ठान एवं आश्रय-स्थल अथवा सम्बल है।)

(और) यदि कोई कथन करने लगे तो वह इस (असंख्य, खण्ड-ब्रह्माण्डों वाली रचना) का कोई अन्त पा ही नहीं सकेगा।

इस अवस्था में पहुंची हुई परम-आत्मा ही जानती है कि) वहां (अनेकों) लोक ही लोक और (उनमें पाये जाने वाले असंख्य ही सूक्ष्म एवं स्थूल) आकार (वाले जीव, पदार्थ आदि उपस्थित) हैं।

(उन सब की) क्रिया ठीक वैसे ही चलती है जैसा कि परब्रह्म परमेश्वर का आदेश होता है। इस अवस्था में पहुंच कर साधक को हरि का आदेश सर्वत्र व्याप्त हुआ दिखाई देता है। वह परमात्मा की सारी रचना और उसके अनुशासन में चल रहे सारे सृष्टि-चक्र को)—

---

*कर्म-खण्ड में साधक हरि से 'जोरु' अर्थात् 'जोड़' प्राप्त कर के सत्यखण्ड में पहुंच कर स्वयं साधक न रह कर साध्य बन जाता है। हरि-मिलन की उसकी विशुद्ध इच्छा पूरी हो जाती है।

वेखै विगसै[1] करि वीचारु ॥
नानक कथना करड़ा[2] सारु[3] ॥ ३७ ॥
जतु पाहारा धीरजु सुनिआरु ॥
अहरणि मति वेदु हथीआरु ॥

देखता है और (भगवान् की अवर्णनीय, महां-महिमा एवं परम-उज्वल सत्ता का विचार करके सदैव गद्गद् होता है।

(परन्तु) हे नानक ! इस सर्वोच्च अवस्था का कथन करना लोहे (के चने चवाने) की तरह अतीव कठिन (असम्भव) है ॥ ३७ ॥

(अब 'जपुजी' का अन्तिम चरण आता है। इसमें श्री गुरू देव जी रूपक अलङ्कार द्वारा पूर्व-वर्णित आत्मिक उन्नति की अवस्थाओं को प्राप्त करने की रीति और मुख्य, आवश्यक अनुशासन का संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिये आचरण को सत्य के सांचे में ढालना है। जिस तरह सुनार अपनी आजीविका चलाने के लिये सोना, चांदी आदि किसी इच्छित बहुमूल्य धातु को पिघला कर अपने औजारों, की सहायता से नये-नये गहने गढ़ता बनाता है उसी प्रकार साधक के लिये भी दैवी-गुणों की सहायता से अपने आचरण को नये ढंग से गढ़ कर हरि-मिलन के योग्य बनाना है। कितना सुन्दर दृष्टान्त है ! सुनार धातु को तपाता है और साधक अपने आचरण को !)

हे साधक ! तुम) धैर्य (अर्थात् सब्र—यथालाभ पर सन्तोष कर लेने) को सुनार (कारीगर) और (इन्द्रियों को वश में करके) संयम रूपी (शुभ गुण को सुनार की दुकान (Workshop) अथवा भट्ठी बना लो।

(सुनार के पास एक निहाई होती है जिस पर टिका कर वह गर्म-धातु को हथौड़ी से कूटता है। तुम भी अविचल, दृढ़) मति को निहाई या टेक और यथार्थ-ज्ञान का हथौड़ा (बना कर धैर्य-रूपी सुनार के सपुर्द कर दो)

---

१. प्रसन्न होता है। २. कठिन ; सख्त। ३. लोहा ; लोहे की तरह।

भउ[1] खला[2] अगनि तप ताउ[3] ॥
भांडा[4] भाउ[5] अंमृतु तितु ढालि ॥
घड़ीऐ सबदु सची टकसाल ॥
जिन कउ नदरि करमु तिन कार ॥
नानक नदरी नदरि निहाल ॥ ३८ ॥

और (जो सुनार के पास आग तेज करने के लिये धौंकनी होती है उसके स्थान पर तुम ईश्वरीय) अनुशासन की धौंकनी फूंक कर ('नाम-अभ्याम' एवं धर्मनिष्ठ श्रम रूपी) तप-तापने की अग्नि जला लो।

फिर, प्रेम-भक्ति की कुठाली बना कर उसमें नाम-अमृत को डाल दो। (इस तरह हरि-नाम की कुठाली में अपनी अमर, अनश्वर आत्मा को तपा कर स्वर्ण-वत् विशुद्ध कर लो)।

हे साधक! इस प्रकार निर्मल हुई आत्मा-रूपी सच्ची टकसाल (टङ्कशाला Mint)में 'शब्द' (अर्थात् आध्यात्मिक जीवन) गढ़ा जाता है।

(परन्तु) यह (आचरण के पुनर्गठन एवं निर्माण का) कार्य (उन साधकों का ही है) जिन्हें भगवान् की कृपा-दृष्टि प्राप्त होती है।

हे नानक! ऐसे, वे भाग्यवान् जीव परम कृपालु प्रभु के करुणा-कटाक्ष से कृतार्थ एवं पूर्णकाम हो जाते हैं ॥३८॥

[यहां पर 'जपु-नीसाण' नामक वाणी समाप्त हो जाती है। समाप्ति की 'मुहर' के रूप में श्री गुरू जी ने एक श्लोक लिखा है जिसमें 'जपुजी' के मुख्य आशय को दुहराते हुए सर्व-विश्व-भ्रातृत्व—Universal Brotherhood—और परब्रह्म को सबका कर्त्ता-पिता मान कर उसकी भक्ति का आदेश दिया गया है।

यह श्लोक 'आदि-ग्रन्थ' के अन्त में आने वाली 'मुंदावणी' नामी रचना की तरह 'जपुजी' का उपसंहार व अन्त्यकथन—Postlude है]

---

१. भय; अनुशासन। २. धौंकनी। ३. ताप; जला लो। ४. कुठाली। ५. भाव; प्रेम।

सलोकु (श्लोक)

पवणु गुरू पाणी पिता माता धरति महतु ॥
दिवसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु ॥*

('शब्द', जो सब प्रकार के ज्ञान का कारण है, वायु में थिरकन होने से उत्पन्न होता है। अतएव) पवन संसार का गुरु (ज्ञान-दाता) है। (सारी उत्पत्ति जल से होने के कारण‡) पानी सबका पिता है (और जीवों के पालण-पोषण के लिये नाना प्रकार के पदार्थ जुटाने के फल-स्वरूप) धरती महती (बड़ी) माता है।

दिन और रात दो दाया(Male-nurse) और दाई (धाय–Female Nurse) हैं (जिनके संरक्षण में) सारा जगत् खेल रहा है।‡‡

*ये काव्य-पंक्तियां श्री गुरु नानक देव द्वारा रचित मारू राग की 'सोलहे' नामक रचना में इस प्रकार दी गई हैं :—

'पउणु गुरू पाणी पित जाता ॥ उदर संजोगी धरती माता ॥
रैणि दिनसु दुइ दाई दाइआ जगु खेलै खेलाई हे ॥

(आदि ग्रन्थ—पृष्ट १०२१)

‡गुरु-मति के अनुसार पहले निरंजन, निराकार सत्य-रूप परम-ब्रह्म से पवन, फिर वायु से जल और जल से विश्व की उत्पत्ति का सिद्धान्त मान्य है। जैसा कि गुरूवाक् है :—

साचे ते पवना भइआ पवनै ते जलु होइ ॥
जल ते त्रिभवणु साजिआ घटि घटि जोति समोइ ॥

('आदि-ग्रन्थ'—पृष्ठ १९)

और फिर मानव-शरीर की रचना भी तो माता के रक्त और पिता के वीर्य से होती है ; ये दोनों जलरूप ही हैं।

‡‡दिन संसार को अनेक कामों में व्यस्त रखता है और रात्रि उसे थके हुए शिशु की तरह थपथपा कर आराम करने के लिये सुला देती है।

चंगिआईआ बुरिआईआ वाचै[1] धरमु हदूरि[2] ॥
करमी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि ॥
जिनी नाम धिआइआ गए मसकति[3] घालि ॥
नानक ते मुख उजले[4] केती[5] छुटी नालि ॥१॥*

धर्म (अर्थात् ईश्वरीय नियम सर्वोच्च न्यायाधीश परब्रह्म परमेश्वर की सर्वव्यापक) उपस्थिति में (जीवों की) अच्छाइयों और बुराइयों (अर्थात् उनके किये हुए अच्छे बुरे कर्मों) का उच्चारण करता एवं परखता है (जिसके फल-स्वरूप) अपने अपने किये हुये कर्मों के अनुसार (अपनी-अपनी वृत्ति के अनुरूप) कोई जीव प्रभु-परमात्मा के निकट और कोई दूर हो (कर उच्च और नीच योनियों में फिराये) जाते हैं।

हे नानक ! जिन्होंने हरि-नाम का ध्यान, (अर्थात् दत्तचित्त हो कर (अभ्यास) किया वे (ही वास्तव में जगत् यात्रा का अपना) श्रम (सफल) कर गये।

उनके मुख सदैव उजले रहते हैं। (वे निर्दोष तथा निष्कलङ्क हैं। वे आप मुक्त हो गए और साथ ही उनकी सङ्गति में आने से) कितने ही (और जीव भी माया के 'अहं' प्रभृति अनेक वन्धनों से) विमुक्त हो गये ॥१॥

१. पढ़ता ; विचारता है। २. उपस्थिति में। ३. परिश्रम। ४. उज्जवल ; निष्कलंक। ५. कितनी ही और जनता।

*यह श्लोक द्वितीय 'नानक' श्री गुरू अङ्गद देव जी कृत 'माझ की वार' में, तनिक पाठान्तर के साथ 'आदि-ग्रन्थ'—पृष्ट १४६ पर भी संग्रहीत है।

'नानक नाम चड़दी कला
तेरे भाणे सरबत का भला ॥'

'इति'

.... Japji, Guru Nanak's great poem, ...may well be classed with the Gita, the Gathas and a few other spiritual masterpieces.

—Duncan Greenlees

'जपुजी' आध्यात्मिक जगत् का अनमोल रत्न है। यह आध्यात्मिक अनुभूतियों का निचोड़ है।.........

'जपुजी' में श्रवण-मनन, नाम-नामी का प्रत्यय, जगत्-प्रपंच का मूल कारण, गुण-संकीर्तन, भगवन्महिमा आदि तत्वों को इतनी शक्तिशाली और सहज भाषा में कहा गया है कि शास्त्रीय प्रपंच एकदम म्लान लगने लगते हैं।.........प्रत्येक पाठ के बाद इससे नया आलोक मिलता है।

—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

प्रस्तुत 'श्री जपुजी-दर्पण' गुरू साहिब के इसी अमर और महामहिम सन्देश को समझने-समझाने का पुण्य-प्रयास है।......

श्री धवन जी का सम्पूर्ण प्रयास दुरूह दार्शनिक जटिलताओं से सर्वथा मुक्त है और इसी अनुपात से सर्व-ग्राह्य भी।...... जिससे आज के इस संतप्त एवं विकल युग में अवश्य ही अधिकाधिक जनों का भला होगा।........

—डा० सरनदास भनोत

This short commentary of Japuji, the immortal composition of Guru Nanak, is a valuable attempt in Hindi by S. Amarjit Singh. His perpretation of this basic work of Sikhism and his insight into the Sikh Religion and its tenets is worth appreciation.

The young writer deserves much encouragement.

Dr. Surinder Singh Kohli

Can be had from :

Shiromani

Gurdwara Parbandhak Committee,

AMRITSAR.